डॉ. सुशील कुमार शर्मा

साहित्य-विमर्श का विवेक

डॉ. सुशील कुमार शर्मा

साहित्य-विमर्श का विवेक

डॉ. सुशील कुमार शर्मा

मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली-110092

ISBN: 978-93-80363-64-6

© : डॉ. सुशील कुमार शर्मा

प्रकाशक : मीनाक्षी प्रकाशन

एम.बी. 32/2बी, गली नं. 2,

शकरपुर, दिल्ली-110 092

संस्करण : 2011

मूल्य : 150.00 रुपये

शब्द-संयोजन : विकास चन्द्र

मुद्रक : बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा,

दिल्ली-110 032

SAHITYA-VIMARSH KA VIVEK by Dr. Sushil Kumar Sharma

समर्पण

हिन्दी साहित्य के उन समस्त

सुधी अध्येताओं को

जिनकी पाठकीय अभिरुचि के कारण

हिन्दी की साहित्यिक कृतियाँ

अब भी जीवंत हैं।

- डॉ. सुशील कुमार शर्मा

दो शब्द

साहित्य और संस्कृति का अनन्य संबंध है। यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो उस दर्पण में संस्कृति का विपुल आकार भी उभरता है। साहित्य संस्कृति के अंतर्बाह्य का परिचायक होता है। साहित्य के द्वारा यदि संस्कृति के अंग-प्रत्यंग को जाना-समझा जा सकता है तो संस्कृति साहित्य को अपने कुल सदस्य के रूप में स्वीकार करती है। साहित्य के द्वारा संस्कृति के सम्पूर्ण चरित्र को पढ़ा जा सकता है। समय का स्पर्श संस्कृति को परिवर्तनशील बनाता है। इस परिवर्तन को साहित्य सहेजता है और परिवर्तन की धड़कनों का सम्यक् विश्लेषण करता है। संस्कृति के परिवर्तन के साथ ही साहित्य का स्वर और स्वरूप भी परिवर्तित होता रहता है। इन्हीं परिवर्तन-बिन्दुओं को जानने की प्रक्रिया नवीन सिद्धांतों को और नवोन्मेष को जन्म देती है। इसी से चिंतन और दर्शन का नवीन पथ प्रशस्त होता है। वैदिक काल से वर्तमान तक साहित्य और संस्कृति के अटूट संबंधों का पावन निर्झर अनवरत कल-कल करता हुआ प्रवहमान हो रहा है।

प्रस्तुत कृति में साहित्य के विविध विषयों को सर्वथा नूतन दृष्टिकोण से परखने का प्रयास किया है। हिन्दी साहित्येतिहास में से कुछ 'विशिष्ट' प्राप्त करने का उपक्रम इस कृति में है। भक्तिकाल के चारों उपभेदों-ज्ञानमार्गी (कबीर-काव्य में सुख, कबीर काव्य और बौद्ध दर्शन); प्रेममार्गी (मधुमालती में प्रेम-व्यंजना); कृष्णभक्ति (सूर काव्य : सांस्कृतिक चेतना) एवं रामभक्ति (रामचरितमानस में सुख की अवधारणा) में निहित सांस्कृतिक तत्त्वों को नई दृष्टि से समझने का प्रयास

है। रीतिकाल में 'रीति' से इतर 'वीर' पर दृष्टिपात किया गया है। आधुनिक काल में द्विवेदी युग, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, समकालीन कविता की संस्कृति को हृदयंगम करने का भी प्रयत्न किया गया है।

आज हिन्दी साहित्य की संस्कृति में जबरदस्त बदलाव दिखायी दे रहा है। दलित-विमर्श और नारी-विमर्श ने हिन्दी साहित्य के स्वरूप को गहरे तक प्रभावित किया है। इन दोनों वर्तमान धाराओं को पूर्ववर्ती धाराओं के दर्पण में देखने का प्रयास मैंने किया है। कुल मिलाकर बहुत कुछ को मुट्ठी में समेटने के प्रयास का प्रतिफल यह कृति है। इस प्रयास में कहाँ तक मुझे सफलता प्राप्त हुई, मैं नहीं जानता। परन्तु इसका समग्र मूल्यांकन कर मेरे सुधी पाठक मुझे अवगत अवश्य करायेंगे, ऐसा विश्वास है।

-डॉ. सुशील कुमार शर्मा

अनुक्रम

स्त्री-विमर्श और भक्ति आंदोलन	11
संत-काव्य : परंपरा और स्वरूप	18
संत-साहित्य : सांस्कृतिक एकता	24
कबीर-काव्य और बौद्ध-दर्शन	31
कबीर-काव्य में सुख	37
मधुमालती में प्रेम-व्यंजना	41
सूर-काव्य : सांस्कृतिक चेतना	46
रामचरितमानस में सुख की अवधारणा	51
मध्यकालीन काव्य में वीर रस	55
द्विवेदीयुगीन काव्य : प्रकृति एवं प्रवृत्ति	61
मैथिलीशरण गुप्त का काव्य और दलित चेतना	67
वैदिक दर्शन और जयशंकर प्रसाद	73

कुरुक्षेत्र : शांति पर्व की तलाश 79

संस्कृति के चार अध्याय : बनावट और बुनावट 84

नई कविता के शिखर : मुक्तिबोध 91

सांस्कृतिक प्रतिमान : कविता के संदर्भ में 96

साठोत्तरी उपन्यास-साहित्य का शिल्प-विधान 102

मैत्रेयी पुष्पा के कथा-साहित्य में नारी 106

हिन्दी गजल : विकास-यात्रा 110

हिन्दी का बाल-साहित्य 116

स्त्री-विमर्श और भक्ति आंदोलन

बड़े ही विपरीत ध्रुव हैं दोनों। मध्यकाल में पल्लवित पुष्पित भक्ति आंदोलन की धार इतनी तीखी नहीं हुई थी कि स्त्री की स्वतंत्रता पर पड़े पर्दे को तार-तार कर सकती। पर फाड़ने का प्रयास अवश्य हुआ, कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। वस्तुतः स्त्री-विमर्श की अवधारणा सर्वथा नई है। यह विज्ञान, बुद्धि और नये भाव-बोध की उपज है। 'स्त्री-विमर्श और भक्ति आंदोलन' के सूत्र का एक सिरा 13वीं-14वीं शताब्दी के सिरे पर है जिसका विस्तार आधुनिक काल के वर्तमान चरण तक व्याप्त है। सैकड़ों वर्षों से हर स्तर पर परतंत्रता की जकड़न से मुक्ति की तलाश और उसके लिए संघर्ष ही स्त्री-विमर्श है। सन् 1975 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने 'अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रति वर्ष किसी न किसी विषय की ओर विश्व समुदाय का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ऐसे दिवस घोषित होते रहते हैं। सन् 1975 से सन् 2008 तक 33 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इन 33 वर्षों में 1975 और 2008 की स्त्री में स्पष्ट रूप से अंतर दिखाई देता है। स्त्री साक्षर हुई है और अपने प्रति हजारों वर्षों के अन्याय को उसने दूर करने का प्रयास किया है। यह एक सुखद पक्ष है-स्त्री-विमर्श का।

सिक्के के दूसरे पहलू को देखें तो स्थिति अब भी संतोषप्रद दिखाई नहीं देती। "स्त्रियों की शिक्षा के क्षेत्र में वृद्धि तो हुई है, लेकिन वह इतनी नहीं हुई कि देश का विशाल स्त्री वर्ग साक्षर हो जाता। उन्हें जागृत करना तो दूर की बात है। पिछले कुछ वर्षों में पंचायतों में औरतें मुखिया और सरपंच तो चुनी गयीं, पर उनमें से अधिकांश अभी भी घूँघट में हैं। बाई प्रॉक्सी उनकी हाजिरी लगती है, लेकिन वास्तविक मुखियागिरी उनका पति, पुत्र या अन्य पुरुष ही करता है। आज तक सरकार संसद में स्त्रियों की आरक्षित भागीदारी का बिल पास नहीं करवा सकी है।" स्पष्ट है, स्त्री प्रत्येक क्षेत्र में अपनी सहभागिता की आकांक्षी है-ऐसी सहभागिता जिसमें किसी भी प्रकार का कोई अवरोध न हो, कोई बंधन न हो और न ही परतंत्रता की कोई श्रृंखला हो। यही है-स्त्री-विमर्श ।

माला बैद की दृष्टि में भी स्त्री-विमर्श का कुछ ऐसा ही रूप है-"....आजादी के पचास वर्षों के बाद भी स्त्री की सामाजिक स्थिति में भी बुनियादी परिवर्तन हुआ हो, मैं ऐसा नहीं मानती। आज भी स्त्री देहरी की चौखट पर खड़ी है...... स्पष्ट है, आज स्त्री देहरी की चौखट से भीतर जाने अथवा बाहर आने के द्वंद्व में है। चौखट से भीतर जाना भक्ति आंदोलन के काल को ढोना है और चौखट से बाहर आना उसकी मुक्ति है और यही है-स्त्री-विमर्श ।

'भजू सेवायाम्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर 'भक्ति' शब्द निर्मित हुआ है। इसका अभिप्रेतार्थ है- भगवान की सेवा। 'भक्ति' की विवेचना विभिन्न प्रकार से की गयी है। 'नारद भक्ति सूत्र' में भक्ति को परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा कहा गया है। परम प्रेमरूपा एवं अमृतस्वरूपा भक्ति प्राप्त कर मनुष्य को लौकिक, परलौकिक किसी भी प्रकार के पदार्थ की आकांक्षा नहीं रहती। वह सब प्रकार के शोक और आसक्ति से मुक्त हो जाता है। राग-द्वेष के प्रति उसकी रुचि समाप्त हो जाती है। भक्ति से उसे जिस अनिर्वचनीय व अकथनीय आत्मानंद की प्राप्ति होती है, उसी में वह विभोर रहता है। 'श्रीमद् भागवत्' में 'भक्ति' के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है :

स वै पुंसा परोधर्मो यतोभक्तिरमोक्षते,

अहेतुक्य प्रतिहतायया ऽऽत्मना संप्रसीदयति ।

अर्थात् जिस निष्काम भाव के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति हो, मनुष्य का वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। ऐसी अक्षुण्ण भक्ति प्राप्त कर हृदय आनंद स्वरूप भगवान की उपलब्धि कर कृतकृत्य हो जाता है। संस्कृत के वैदिक ग्रंथों से लेकर हिन्दी के आधुनिक ग्रंथों तक में भक्ति के स्वरूप की विभिन्न रूपों में व्याख्यायें की गयी हैं और भक्ति को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। इन सबका सारांश यही निकलता है कि भक्ति का संबंध हृदय की आदर्शवादी अवस्था से है। भक्ति मानवीय रूप को गरिमा प्रदान करती है और मनुष्य के सात्विक भावों को पुष्ट करती है। भक्ति के आचार्यों ने भक्ति के विविध प्रकारों की भी चर्चाएँ की हैं। ये अनन्या भक्ति अथवा एकनिष्ठ भक्ति से लेकर एकादश-द्वादश भक्ति तक हैं। भक्ति के प्रमुख तत्त्व-धर्म का सीधा संबंध चार पुरुषार्थों में से एक है।

अलौकिक सत्ता, ईश्वर या भगवान की उपासना के प्रमुख दो प्रकार हैं-निर्गुण और सगुण। कुछ आराधक दोनों स्थितियों का मिला-जुला रूप स्वीकार करते हैं, पर यह उपासना का प्रकार नहीं, अपितु उसका समन्वित रूप है। निर्गुण उपासकों का मत है कि ईश्वर अव्यक्त है, अज है, अनादि है, त्रिगुणातीत है। निर्गुण ईश्वर

का अनुभव ज्ञान के द्वारा ही किया जा सकता है और ज्ञान बिना मोह माया के समूल उच्छेदन के प्राप्त नहीं हो सकता। सगुणवादियों का चिंतन है कि समय-समय पर निर्गुण निराकार ईश्वरीय शक्ति सुगुण रूपीय अवतार धारण कर नर-लीला करती है। ईश्वर का यह रूप जनरंजन कर..... घरती के पापों को दूर करता है। गीता में कहा गया है:

यदा यदा हि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत,

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम ।

परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्,

धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

यही बात सगुण भक्ति के समर्थक गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं :

जब-जब होंहि धरम कै हानी,

बाढ़ असुर अघम अभिमानी।

तब-तब घरि प्रभु विविध सरीरा,

हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा।।

स्पष्ट है कि 'भक्ति का स्वरूप विस्तृत है और वास्तविकता तो यह है कि भक्ति का सात्विक स्वरूप आंतरिक है, व्यावहारिक और कर्मकाण्डी रूप इसका स्थूल एवं बाह्य आकार है।

अब यह तथ्य निर्विवाद मान्य हो चुका है कि भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण भारत से हुआ- "भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से आ रहा था, उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य (संवत् 1053) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था, उस ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।" डॉ. शिवकुमार शर्मा लिखते हैं- "भक्ति की लहर दक्षिण से आयी। शंकर से बहुत पहले दक्षिण देश में आलवार संतों में भक्ति का प्रचार एवं प्रसार हुआ। शंकर के बौद्ध धर्म के विरोध में अद्वैतवाद का प्रचार किया। इसकी प्रतिक्रिया में अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय चल निकले, जिनमें नारायण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया और जनता को भक्ति का स्थूल आश्रय मिला। उनमें विष्णु के अवतारों (राम और कृष्ण) की कल्पना हुई। रामानंद ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोला और जन-भाषा में अपने सिद्धांतों का प्रचार किया।

इस प्रकार भक्ति आंदोलन का जो रूप निर्मित हुआ, वह निर्गुण और सगुण दोनों से मिलकर तैयार हुआ। निर्गुण भक्ति के समर्थक कवियों को सामान्यतः संत

और सगुण भक्ति धारा के समर्थक कवियों को भक्त कहा गया। पर यह निश्चित है कि सम्पूर्ण भक्ति आंदोलन के चार विविध मार्ग थे-जायसी का सूफी आख्यानक प्रेम-काव्य, कबीर का ज्ञानमार्गीय काव्य, तुलसी का राम-काव्य और सूर का कृष्ण-काव्य । समूचे भक्ति आंदोलन का भव्य महल इन्हीं चार स्तंभों पर आधृत है ।

प्रकृति की अनुपम कृति है-स्त्री। स्त्री की स्थिति, परिस्थिति, भूमिका, उसके अवदान-प्रतिदान तथा सृजन-शक्ति की विशिष्टताओं को लेकर विश्व-साहित्य भरा पड़ा है। भारतीय भक्ति आंदोलन में स्त्री की स्थिति भिन्न-भिन्न रही है। संत साहित्य पर सिद्धों व नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है। इनकी शाखाओं की वामाचार पद्धति में स्त्री के रमणी, काम्या या कामिनी रूप को प्रमुख स्थान प्राप्त था। जिसकी अभिव्यक्ति भैरवी और योगिनी जैसे रूपों में हुई। इतना ही नहीं स्त्री को सिद्धों-नाथों की विकसित परंपरा में (तंत्र-मंत्र में) मद्य, मीन, मुद्रा, माँस के साथ मैथुन के रूप में स्थापित किया गया था, पर निर्गुणियों ने स्त्री को माया का मूल मानकर उसे त्यागने की सलाह दी। स्त्री को भुजंग से भी अधिक विषैला बताया :

नारी की झांईं परत, आंधर होत मुजंग,

कबीरा तिनकी कौन गति, जे नित नारी के संग।

परंतु, जहाँ निर्गुण संत कवियों ने नारी-निंदा की है, वहीं उसके गौरव का गान

भी किया है:

पतिव्रता मैली भली, काली कुचिल कुरूप।

पतिव्रता के रूप पर, बारौं कोटि सरूप ।।

पर, जिस स्त्री के गौरव का गान इन संत कवियों द्वारा किया गया है, वह पतिव्रता का रूप है। डॉ. शिवकुमार शर्मा के ये विचार इस संदर्भ में अत्यंत सामयिक हैं कि "लगता है, पतिव्रता का आदर्श उनकी साधना के निकट पड़ता था। सती में एक के प्रति आसक्ति और शेष के प्रति उसकी विरक्ति, असीम प्रेम, साहस और त्याग आदि की जो भावनायें हैं, उनसे वे प्रभावित थे। उन्होंने नारी के कामिनी रूप को माया माना है और इसे निंदनीय कहा है।""

सूफी प्रेम-काव्य में स्त्री की स्थिति संत-काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक उदात्त है। समूचे सूफी-काव्य में ही स्त्री-सत्ता की सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया है। नारी को परमात्मा का प्रतीक माना गया है। इस संबंध में डॉ. शिवकुमार शर्मा लिखते हैं-"सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम-साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है, जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेम के लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तुमात्र नहीं रह जाती। वह उसका समय की साधन सामग्री भी नहीं

कहला सकती जिसमें उसे बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम लेकर तहज साधना के लिए अपनाया था। 12

सगुणवादियों में तुलसी का स्थान सर्वोपरि है। पर तुलसी भक्तिकाल के जितने ही लोकप्रिय कवि हैं, उतने ही विवादास्पद भी हैं, अपनी एकच चौपाई के करण-'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सकल ताड़ना के अधिकारी।' पर इस एक चौपाई के कारण ये उनका दृष्टिकोण नारी विरोधी समझ लेना उचित नहीं होगा। यद्यपि यह सत्य है कि तुलसी ने नारी की भर्त्सना भी की है, पर उसे श्रद्धा भी प्रदान की है। इस संबंध में डॉ. शिवकुमार शर्मा के विचार दृष्टव्य हैं- "नारी के विषय में एक युग कवि होने के नाते वे इतना ऊँचा नहीं उठ सके हैं, जितना कि अपेक्षित था। उनका दोष बस इतना ही है, इससे अधिक नहीं। नारी संबंधी हीनोक्तियों की संस्कृत साहित्य की विशाल परंपरा उनके सामने थी और उन्होंने उसका उपयोग भी किया। चाहे राम हों या भरत, सीता हों या मंदोदरी, सती हो या अनुसुय्या, समुद्र हो या रावण, कवि स्वयं हो या कोई अन्य पात्र, रामायण में जिस किसी माध्यम से नारी के विषय में अभिव्यक्त किये गये कटु विचारों के पीछे मातृ-सत्ता-युग की समाप्ति के पश्चात क्रमशः स्वार्थी पुरुष द्वारा नारी के अधःपतन तथा उनके दमघोटू शोषण की पूर्ति का ह्रास सन्निहित है। मध्ययुगीन नारी इस प्रकार आत्मविश्वास से वंचित और हीन ग्रंथियों से युक्त हो गयी थी कि वह स्वयं अपनी भर्त्सना के लिए संकोच नहीं करती। इससे उसका स्वरूप विस्मरण ही समझना चाहिए जिसका आभास आज भी स्वतंत्र प्रजातंत्रवादी भारत में लक्षाधिक मनोबलहीन नारियों में मिल जाता है। "13

सत्य तो यह है कि भक्ति आंदोलन में स्त्री की स्वतंत्रता को कोई स्थान नहीं हैं। उस समय की आदर्शात्मक स्थिति में यह संभव ही नहीं था कि स्त्री बँधी-बँधाई लीक से बाहर जाने का दुस्साहस भी करे। भक्ति आंदोलन के चारों स्तंभों में से किसी में भी आधुनिक स्त्री-स्वातंत्र्य के बीज नहीं मिलते। एक ही समय में एक ही संत कवि की स्त्री-विषयक धारणा अलग-अलग है। कबीर एक ही समय में स्त्री की भर्त्सना करते हैं, यहाँ तक कि उसे नरक का कुण्ड बताने से भी नहीं चूकते :

नारी कुण्ड नरक का विरला धंभै बाग।

कोई साधु जन उबरै, सब जग मूवा लाग।।

यद्यपि कबीर ने 'पर नारी' के लिए ही ऐसी उक्तियाँ प्रयुक्त की हैं। यह इसलिए ताकि समाज व्यभिचार और अनाचार से प्रादुर्भूत बुराइयों से मुक्त रहे। सूफियों की 'स्त्री' परम सत्ता की प्रतीक है, परंतु परंपरा से मुक्त वह भी नहीं

है। अब इसे तो स्त्री-विमर्श की कसौटी पर कसा नहीं जा सकता कि अपनी विवाहिता पत्नी नागमती को पुरुष रत्नसेन बिलखता हुआ छोड़ दे और पद्मावती की सुंदरता के पीछे पागल बना फिरता रहे। फिर भी यह कहा जा सकता है कि स्त्री-विमर्श के मामले में सूफी, संतों से कहीं अधिक प्रगतिशील थे।

कृष्णभक्ति शाखा के कवियों के काव्य में भी आधुनिक स्त्री-विमर्श के प्रश्नों के दर्शन नहीं होते। इतना अवश्य है कि 'ब्रजबालायें' कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की स्वीकारोक्ति करती हैं, पर वह भी पूर्णतया भय मुक्त नहीं है। उस पर भी 'कुल-रीति और लोक-लाज मर्यादा' की तलवार लटकती है। तथाकथित 'रास' में युवतियाँ नृत्य करती हैं, मनोरंजन करती हैं, पर पुरुष एक ही रहता है। कृष्ण एक हजार से अधिक विवाह रचाते हैं-इन कथानकों में कहीं भी स्त्री-विमर्श का आभास नहीं मिलता। यशोदा जैसी स्त्रियाँ पर्दे में नहीं रहती, पर उनकी भूमिका एक गृहिणी से अधिक नहीं है।

राम भक्ति शाखा में कैकेयी ऐसी प्रथम महिला दृष्टिगोचर होती है, जो अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाती है-वरदानों के रूप में। सूर्पणखा भी स्वतंत्र विचरण करती है और अपने जीवन-साथी की तलाश करती है। यह और बात है कि पुरुष प्रधान समाज उसकी भावनाओं को आहत कर देता है। 16

स्त्री-विमर्श 19वीं शताब्दी का प्रगतिशील विचार है, जो शनैः शनैः समूचे विश्व में आच्छादित होता जा रहा है। भक्तिकालीन साहित्य का संबंध 13वीं-14वीं शताब्दी से है। दोनों के ध्रुवीय बिंदु पश्चिम-पूर्व के हैं, जिनका कोई अंतर्संबंध नहीं है। यह और बात है कि स्त्री-विमर्श के सूत्रों को जबरन भक्ति आंदोलन के साहित्य में ढूँढने का प्रयास किया जाये। यद्यपि भक्ति आंदोलन के प्रणेता स्त्री के संदर्भ में संकीर्ण नहीं थे, तथापि इनके अनुयायियों ने अपने गुरुओं का स्त्री संबंधी उज्ज्वल पक्ष समाज के सामने आने नहीं दिया। सच तो यह है कि भारत में मुगल शासन आने के बाद की प्रतिक्रिया स्वरूप स्त्रियों को पर्दे के पीछे रखने और 'पर नारी पैनी छुरी जैसे सिद्धांतों को अंगीकार करने के लिए भक्ति आंदोलन की नारी-विषयक दृष्टि विवश हुई। भक्ति आंदोलन का प्रभाव स्त्री मुक्ति आंदोलन के रूप में तब परिवर्तित हुआ जब अंग्रेजी शासन काल में पुनर्जागरण की लहर आयी। इसमें जो दो महत्त्वपूर्ण बिंदु थे वे थे-नारी-शिक्षा और सती प्रथा का अंत। सती प्रथा के अंत का आभास भक्ति आंदोलन के साहित्य में मिलता है, जब दशरथ की मृत्यु के उपरांत उनकी पत्नियाँ सती नहीं होतीं।

निष्कर्षतः स्त्री-विमर्श के कोई सूत्र भक्ति आंदोलन में प्राप्त नहीं होते, हाँ,

इसका आभास अवश्य ही इस आंदोलन के साहित्य में ढूँढने पर यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाता है।

संदर्भ :

1. स्त्री-विमर्श: सं. रमणिका गुप्ता, पृ. 13

2. स्त्री-गाथा: सं. माला वैद, पृ. 26

3. नारद भक्ति-सूत्र, 2-10

4. श्रीमद् भागवत 1-2-6

5. वही, 4-7, 8

6. रामचरितमानस (बालकाण्ड) तुलसीदास, 120-6, 8

7. हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 65

8. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 114

9. कबीर : भारत भूषण 'सरोज', पृ. 66

10. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियों डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 134

11. वही, पृ. 135

12. वही, पृ. 175

13. वही, पृ. 249

14. कवीर ग्रंथावली सं. डॉ. श्यामसुंदर दास, पृ. 31

15. पद्मावत : मलिक मोहम्मद जायसी, पृ. 115

16. रामचरितमानस (अरण्यकाण्ड) तुलसीदास, 97-5

संत-काव्य : परंपरा और स्वरूप

सामान्यतः संत शब्द ज्ञानमार्गी साधना के कवियों के लिये रूढ़ माना गया है। किंतु अर्थ संकोच एवं अर्थ विस्तार के कारण इसके अनेक अर्थ समाज में बहु प्रचतित हैं। जिसके अर्थ साधु, फकीर, सज्जन, भक्त एवं पूर्ण में ईश्वर को समर्पित व्यक्ति धर्मात्मा और पुण्यात्मा माने जा सकते हैं। यह शब्द संस्कृत की 'अस' धातु से निष्पन्न 'सत' शब्द का पुल्लिंग है। इसमें प्रथमा विभक्ति और एक वचन का रूप 'सन्' है। इसमें 'शत' (अत्) प्रत्यय लगा है। इसका व्युत्पत्ति परक अर्थ हुआ-जिसे सत्य की अनुभूति हो चुकी हो अथवा जो सत्य हो। संत शब्द का एक अर्थ 'महात्मा' भी है। हिन्दी भाषा शब्द कोश के अनुसार 'संत' शब्द का अर्थ साधु, संन्यासी, विरक्त या त्यागी पुरुष, सज्जन महात्मा है। कबीर के मतानुसार संत और साहब एक हैं:

साघु मिले साहब मिले, अंतर रहा न रेख।

मनसा बाचा कर्मना, साधु साहिब एक ।।

पलटू दास एवं गरीब दास भी ऐसा ही मानते हैं :

(क) संत और राम को एक के जानिये।

(ख) साई सरीखे संत है या में मीन न मेख।

गोस्वामी तुलसीदास के मतानुसार :

संत कहहिं अस नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव।

होइ न विमल विवेक उर, गुरु सन किये दुराव ।।

हिन्दी साहित्य के कतिपय विद्वानों के अभिमत भी इस संदर्भ में दृष्टव्य हैं। यथा-'सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध साक्षात्कार करने वाले को 'संत' कहा जाता है।' 'संत शब्द पहले अपने रुदिगत अयों में ज्ञानेश्वर आदि निर्गुण भक्तों के लिये प्रयुक्त होता था, जो वारकरी सम्प्रदाय के प्रचारक थे। कालांतर में अनेक बातों में समान होने के कारण उत्तर भारत के कबीर आदि निर्गुण ज्ञानमार्गियों के लिये भी 'संत' शब्द का प्रयोग होने लगा। वास्तव में आज निर्गुण और संत दोनों शब्द एक

हो गये हैं जिसे हम आजकल संत साहित्य कहने लगे। वह वस्तुतः निर्गुण साहित्य ही है।' 'संत' आध्यात्मिक विद्या का व्यावहारिक स्वरूप है। चाहे उसे आध्यात्मिक, व्यावहारिक ज्ञान भले न हो किन्तु वह आत्मचेता होता है, दृष्टा होता है।' ऋषि मुनि, सत्पुरुप, सिद्ध 'संत' को एक ही तरह का व्यक्ति बताया है।' 'सच्चा संत संसार में रहकर भी इसके विकारों से परे है जैसे कि जल में कमल के पत्ते तथा जल पक्षी जो जल में रहकर भी भीगते नहीं हैं।' इसी प्रकार 'आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोकमंगल की कामना करने वाले को 'संत' की श्रेणी में रखा है।'

इस प्रकार 'संत' शब्द की एक समन्वित परिभाषा इस रूप में प्रकट की जा सकती है : जो पर दुख कातरता से द्रवीभूत होकर निःस्वार्थ रूप में प्राणि मात्र की सच्चे मन से सेवा करता है, जिसका मन दूसरे के कष्ट को देखकर नवनीत के समान कोमल होता है और जो स्वयं को पूर्ण रूप से ईश्वर को समर्पित कर देता है, वास्तव में यही सच्चा 'संत' कहलाने का अधिकारी होता है।

जहाँ तक संत काव्य की परंपरा का प्रश्न है। इस संदर्भ में पं. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन अत्यंत समीचीन प्रतीत होता हैं वे लिखते हैं- 'जहाँ तक पता चलता है निर्गुण मार्ग के निर्दिष्ट, प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे।' परंतु नामदेव की रचना के आधार पर कहा जा सकता है कि निर्गुण पंथ के लिये मार्ग निकालने वाले नाथ पंथ के योगी और भक्त नामदेव थे।' संत साहित्य के अधिकारी विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का कथन है 'संत कबीर को मैं इसका प्रवर्तक मानता हूँ। कबीर के पूर्वकालीन संतों में जय देव, नवम देव, सघना, लाल देव, वेटरी और त्रिलोचन इत्यादि उल्लेख हैं।'

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर से धर्मदास तक 25 संतों की बानियों का संग्रह किया है। जब कि डॉ. मिथिलेश शरण मीतल ने 63 संतों का उल्लेख किया है। इस काव्य परंपरा के प्रमुख संत इस प्रकार हैं:

1. **जयदेव (जैदेव):** कुछ लोकगीत गोविन्द के रचयिता को जयदेव मानते हैं और कुछ अन्य संत कवि जैदेव को। आदि ग्रंथ में इनके दो पद संग्रहित हैं। इनका जीवन काल 13वीं शताब्दी माना जाता है।

2. **सघना :** ये नामदेव के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन थे। इनका जन्म संभवतः विक्रम की 14वीं शताब्दी में हुआ था। आदि ग्रंथ में इनका केवल एक पद संग्रहित है। ये अत्यंत सरल और उच्चकोटि के संत थे।

3. **जेली :** अनुमानतः ये 14वीं विक्रमी शताब्दी में विद्यमान थे। आदि ग्रंथ में इनके तीन पद संग्रहित हैं। जिन पर मराठी भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

4. **त्रिलोचन :** इनका जन्म उत्तर प्रदेश में संवत् 1324 में वैश्य कुल में हुआ था। संत नामदेव से इनकी मित्रता थी।

5.**नामदेव :** इनका जन्म वि.सं. 1326 में महाराष्ट्र के सतारा जिला के नरसी-यमनी गाँव में हुआ था। इनके पिता दया सेठ, माता गोना बाई और गुरु ज्ञानेश्वर महाराज बताये जाते हैं। ये जाति से छीपी थे। गृहस्थ होते हुए भी संसार से तटस्थ थे। पंढरपुर के विणेना को यह अपना इष्ट देव मानते थे। मराठी-हिन्दी भाषा में लगभग इनकी 4 कृतियाँ उपलब्ध हैं। आदि ग्रंथ में इनके 62 पद संकलित हैं। संवत् 1407 में पंढरपुर में ही इनकी मृत्यु हुई।

6. **स्वामी रामानन्द** इनका जन्म प्रयाग के ब्राह्मण परिवार में विक्रम सं. 1356 में हुआ था। इनके गुरु राघवानंद थे। इन्होंने 'रामायत सम्प्रदाय चलाया। इनकी अधिकांश रचनायें संस्कृत में हैं। संत कबीर इन्हीं के शिष्य थे। वि. सं. 1467 में इनका देहावसान हुआ।

7. **सेन नाई:** विद्वानों के मतानुसार इनका समय 14-15वीं वि.सं. माना जाता है। ऐसी किंवदन्ती है कि स्वामी रामानंद के शिष्य थे। इनकी फुटकर बानियाँ हिन्दी-मराठी में उपलब्ध हैं। 'सेन की आरती' नामक एक पद आदि ग्रंथ में सम्मिलित है।

8. **कबीर साहब :** इनका जन्म वि.सं. 1456 में हुआ था। नीरु नामक जुलाहा इनके पालक पिता थे। इन्होंने स्वामी रामानंद को अपना गुरु बताया। लोई इनकी पत्नी तथा कमाल-कमाली इनकी संतानें थीं। ये अनपढ़ थे किंतु आध्यात्मिक क्षेत्र में अनूठी प्रतिभा थे। इनकी रचनायें एक हजार साखियों, 403 पद और 212 रमैनियों में विभक्त हैं। 9. पीपा : इनका जन्म 1425 ई. बताया जाता है। यह भवानी के उपासक थे। स्वामी रामानन्द के सिद्धांतों से प्रभावित थे। 'पीपाजी की वानी' इनकी एक मात्र रचना है। आदि ग्रंथ में इनका एक पद संग्रहित है।

10. **रैदास :** ये कबीर के समकालीन और रामानन्द द्वारा दीक्षित माने जाते हैं। रघु और घुरबनियाँ पिता-माता के यहाँ इनका जन्म काशी में माना जाता है। ये निम्न जाति के थे। मीराबाई इनकी शिष्या थीं। आदि ग्रंथ में इनके 40 पद संकलित हैं। ये रैदासी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। 11. कमाल : ये कबीर के पुत्र और शिष्य भी थे। ये अपने पिता की भाँति ही खरी बात कहने में सिद्ध हस्त थे। ये अत्यंत विनम्र थे।

12. **धन्ना :** इनका जन्म राजस्थान राज्य के जाट परिवार में हुआ था। कृषि कार्य

करते हुये आध्यात्मिक जगत में प्रविष्ट हुई। ये भी स्वामी रामानन्द के विनम्र शिष्य थे। आदि ग्रंथ में इनकी चार रचनायें (पद) संकलित है।

13. **जम्मनाथ :** इनका जन्म जोधपुर के जयासार गाँव में संवत् 1508 में हुआ था। ये योग में निष्णात होने के कारण 'मुनीन्द्र जम्मथि के नाम से विख्यात थे। इनकी फुटकर रचनायें उपलब्ध हैं।

14. **गुरु नानक देव :** ये विक्रम संवत 1526 को लाहौर जिला के तलवंडी गाँव में प्रादुर्भूत हुये थे। इनके पिता कालू और माता तृप्ता थी। श्रीचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र, इनके दो पुत्र थे। शादी के ग्यारह वर्ष बाद ही इन्होंने गृह परित्याग कर दिया था। भारत की यात्रा करने के बाद ये कर्तारपुर में रहकर उपदेश देने लगे थे। 70 वर्ष की अवस्था में वि.सं. 1595 में इनकी मृत्यु हुई।

15. **शेख फरीद :** इनका जन्म दोपालापुर के निकट कोतोबाल गाँव में हुआ था। इन्हें 'शाहब्रह्म' भी कहा जाता था। इनकी रचनाओं में 130 साखियाँ विद्यमान हैं। इनके चार पद आदि ग्रंथ में संकलित हैं। वि.सं. 1609 में इनका देहावसान हो गया।

16. **गुरु अंगद देव :** इनका जन्म वि.सं. 1561 को एक खत्री परिवार में हुआ था। इनके बचपन का नाम लहिना था। ये नानक के शिष्य थे। इन्होंने गुरुमुखी लिपि का आविष्कार किया। वि.सं. 1609 में इनका देहावासान हुआ। आदि ग्रंथ में इनकी थोड़ी सी रचनायें संकलित हैं।

17. **गुरु अमरदास :** इनका जन्म बसरका गाँव में वि.स. 1536 में हुआ था। बचपन में अमरु नाम से विख्यात है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण ये अत्यंत विनम्र और सेवा भावी थे। इनकी रचनायें आदि ग्रंथ के अंतर्गत 'महत्ता के नीचे दी गई हैं। सर्व प्रसिद्ध रचना 'आनन्द' हैं जो प्रायः उत्सवों पर गाई जाती है। इनका स्वर्गवास वि.सं. 1631 में हुआ।

18. **सिंगा :** इनका जन्म बड़वानी रिसायत के खजूर नामक गाँव में वि.स. 1576 में हुआ था। बाद में एक साहब की नौकरी छोड़कर मनरंगी नाम साधु के शिष्य बन गये। इन्होंने 800 वानियों की रचना की। वि.सं. 1616 में इन्होंने जीवित समाधि ले ली थी।

19. **भीखन :** इनका जन्म का निश्चित पता नहीं चलता है। इनके पदों में राम नाम के महत्त्व का वर्णन है। इनका देहान्त वि.सं. 1530-31 माना जाता है। आदि ग्रंथ में इनके दो पद संग्रहित है।

20. **गुरु रामदास :** इनका जन्म वि.सं. 1591 में लाहौर जिला के चूना माडी गाँव में हुआ था। अमरदास इनके गुरु थे। गुरु अमरदास ने अपनी पुत्री का

विवाह इनके साथ कर दिया था। आदि ग्रंथ में 'महत्ता के अंतर्गत इनकी रचनायें दी गई हैं। काव्य रचना पर इनका विशिष्ट अधिकार था। वि.सं. 1638 में इनका स्वर्गवास हो गया था।

21. **धर्मदास :** इनका समय 16वीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जाता है। रींवा के बांधोगढ़ में इनका जन्म हुआ था। ये कबीर के शिष्य थे। इनका सत्संग स्थान काशी था। इनकी भाषा पर पूर्वीयन का प्रभाव था।

22. **दादू दयाल** : इनका जन्म गुजरात राज्य के अहमदाबाद नगर में वि.सं. 1601 में हुआ था। इन्होंने वृंदावन में जाकर वृद्धानंद नामक संत से दीक्षा ग्रहण की और तीस वर्ष की आयु में 'ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना की। जो बाद में चलकर 'दादू पंथ' के नाम से विख्यात हुआ। वि.सं. 1660 को नराणे (राजस्थान) में इनकी मृत्यु हो गई। अंगबघू और कायावेलि इनके दो प्रमुख काव्य-संग्रह हैं।

23. **गुरु अर्जुन देव** : इनके नाना गुरु अमरदास के यहाँ इनका जन्म वि.सं. 1620 में हुआ था। ये गुरु रामदास के चौथे पुत्र थे। इन्होंने वि.सं. 1661 में आदि ग्रंथ लिखवाकर तैयार कराया था। इनकी रचनायें 'महत्ता-5' के नीचे दी गई हैं। 43 वर्ष की आयु में ही वि.सं. 1663 में इनका देहावसान हो गया।

24. **वषना :** इनका जन्म सांभर के पास नराणा नगर में माना जाता है। ये दादू जी के प्रमुख शिष्य थे।

25. **बावरी साहिबा :** जीवन और मृत्यु के संबंध में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। जनश्रुति है कि ये मायानंद की शिष्या थीं। इनके मात्र दो पद उपलब्ध हैं जिनसे इनकी उत्कृष्ट काव्य कला का भान होता है। ये उच्च कोटि की साधिका एवं कवयित्री भी थीं।

26. **गुरु गोविन्द सिंह :** इनका जन्म वि.सं. 1623 में पटना में हुआ था। ये गुरु तेगबहादुर के पुत्र थे। ये शस्त्र और शास्त्र दोनों में ही अत्यंत निपुण थे। इनकी रचनायें सिखों के दशम् ग्रंथ में संकलित है। 'चण्डी चरित्र' और 'दुर्गा सप्तसती' इनकी श्रेष्ठ रचनायें हैं। इन्होंने विभिन्न नाटकों की भी रचना की। वि.सं. 1765 में इनका देहावसान हुआ।

इनके अतिरिक्त इस संत काव्य परंपरा को संत रज्जव साहब, मलूकदास, गरीब दास (दादू पंथी), गुरु तेगबहादुर, बाबा दारवी दास, गरीब दास, दूलन दास, यारी साहब, जगजीवन साहब, दरिया साहब (विहार), दरिया साहब (मारवाड़ वाले), बुल्लेशाह, संत तुलसी दास, गुलाल साहव, बुल्ला साहब, बाबा किंतराम, चरनदास, संत पलटूदास, भीखा साहब, दयाबाई चलदास, स्वामी शिवदयाल सिंह,

स्वामी रामतीर्थ इत्यादि ने आगे बढ़ाने का काम किया। जहाँ तक संत काव्य के स्वरूप का प्रश्न है इसके उत्तर में यही कहा जा

सकता है कि इन्होंने समभाव के ऊपर सर्वाधिक बल दिया गया है। इसी के अंतर्गत रस दशा और भाव समाधि का उल्लेख भी सम्मिलित हो जाता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बिना ईश्वर की कृपा हुये भक्ति रस का पान कर पाना संभव ही नहीं है। निःसंदेह यह सत्य है कि संतों ने किसी उद्देश्य से काव्य-रचना नहीं की है बल्कि वे भक्ति वैराग्य एवं तत्कालीन सामाजिक विषमताओं के संबंध में अपने अनुभव से आई हुई बातों को जन साधारण की शब्दावली में दोहे और पदों में गाते रहते थे। उपदेश करते रहते थे, जिन्हें उनके शिष्यों ने याद करके बाद में लिपिबद्ध कर दिया। संत काव्य में परम तत्त्व, संत गुरु, माया तत्त्व, संसार की असारता, साधना, सत्य, संतोष, निवैरिता, दया, अहिंसा, परोपकार, समदृष्टि, उदारता, एकता, नारी के प्रति एकांकी दृष्टिकोण, कथनी करनी में भेद की स्थिति, मानव कल्याण, धार्मिक साम्प्रदायिक और सामाजिक विंडम्बनाओं का वर्णन मिलता है।

इस प्रकार संत काव्य ने समाज की अभूतपर्व सेवा की है। मानवीय, गुणों की सर्वत्र प्रशंसा और अवगुणों की उपेक्षा की गई है। सभी संत चाहते थे कि समाज से कुरीतियाँ, अंधविश्वास और रूढ़ियाँ सदा-सदा के लिये समाप्त हों तथा एक ईमानदार और श्रेष्ठ समाज का निर्माण हो जिसमें वर्ण जाति का कोई भेदभाव न हो। सभी मानव बराबर हैं। सभी ईश्वर के अंश हैं। धार्मिक उन्माद की नहीं वरन आज समूचे समाज को सर्वधर्म समभाव की महती आवश्यकता है। इसी के द्वारा मानव समाज की सच्ची सेवा और ईश्वर का साक्षात्कार संभव हो सकता है।

संत-साहित्य : सांस्कृतिक एकता

'संत' शब्द मूलतः संस्कृत के 'सत्' शब्द से बना है जो 'अस्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'सत्' शब्द पुल्लिंग, कर्त्ता कारक, बहुवचन में 'संत' बनता है जबकि हिन्दी में 'संत' शब्द का प्रयोग पुल्लिंग, एकवचन के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। 'धम्मपद' में 'संत' शब्द 'शांत' के अर्थ में प्रयोग हुआ है- 'अधिगच्छे पदं संतं सङ्खारूपसमं सुखं ।' 'सत्' से व्युत्पत्ति मानी जाए तो 'संत' से तात्पर्य है- जिसे सत् की अनुभूति हो गई है। 'शांत' अर्थ माना जाए तो तात्पर्य होगा - जिसकी इच्छाएँ शांत हो गई हैं। डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति 'शांत' शब्द से मानी है और इसका अर्थ निवृत्ति मार्ग या वैरागी किया है।' आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'संत' शब्द का अर्थ है- 'संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है, जिसने सत् रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तदरूप हो गया हो, जो सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही संत है।"

आचार्य विनय मोहन के अनुसार 'व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ है जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोक-मंगल की कामना करता है।' कबीर ने संत उसे माना है जो वैर रहित हो, निष्कामी हो, ईश्वर के प्रति अनुराग रखे, विषय-वासनाओं से विरक्त रहे:

निरवैरी निहकामता, साईं सेती नेह।

विषया हूँ न्यारा रहे, संतन का अंग एह।।'

डॉ. शिवकुमार शर्मा के अनुसार 'संत' शब्द 'सत' से बना है, जिसका अर्थ ईश्वरोन्मुख कोई भी सज्जन पुरुष हो सकता है। संकुचित अर्थ में निर्गुणोपासकों को ही संत कह दिया जाता है। हिन्दी साहित्य में संत-साहित्य से कबीर, दादू, नानक, और सुंदरदास आदि के काव्य का ग्रहण होता है, जबकि सूर तुलसी आदि के साहित्य को भक्ति काव्य कहा जाता है।" प्रायः ऐसी ही पुष्टि करते हुए डॉ.

श्यामसुंदर दास लिखते हैं कि 'इसमें संदेह नहीं कि संतधारा का उद्गम भी वैष्णव भक्ति रूपी स्रोत से ही हुआ है। श्री रामानुज ने सं. 1144 में यादवाचल पर नारायण की मूर्ति स्थापित करके दक्षिण में वैष्णव धर्म का प्रवाह चलाया था, पर उनकी भक्ति का आधार ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद था, उनका अद्वैत विशिष्टाद्वैत हुआ। गुजरात में मध्वाचार्य ने द्वैतमूलक वैष्णव धर्म का प्रवर्तन किया। जो कुछ कहा जा चुका है, उससे पता लगेगा कि संत धारा अधिकतर ज्ञानमार्ग के ही मेल में रही। पर उघर बंगाल में महाप्रभु चैतन्यदेव और उत्तर भारत में बल्लभाचार्य जी के प्रभाव से भक्ति के लिए परमात्मा के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की गयी। यद्यपि सिद्धांत रूप में ज्ञानमार्ग का त्याग नहीं किया गया। फिर भी तथ्य की बात यह जान पड़ती है कि वैष्णव सम्प्रदाय ने आगे चलकर व्यवहार में सगुण भक्ति का आश्रय लिया, तब भी संत मत ने ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्त से ही अपना संबंध रखा।

यद्यपि विद्वानों ने सगुणोपासक तुलसी और सूर जैसे भक्त कवियों को 'संत' की परिधि से बाहर नहीं किया है, परंतु अपनी विशिष्ट जीवन-शैली और कथ्य-शैली के कारण निर्गुण भक्त कवि ही इस संज्ञा से विभूषित किये गये हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी इस साहित्य को 'संत-साहित्य' ही कहा है- 'संत काव्य उन्हीं कवियों की वानियों का नाम है जिन्होंने निर्गुण संप्रदाय के अंतर्गत काव्य-रचना की है।" इस प्रकार हिन्दी साहित्य में 'संत' शब्द निर्गुण कवियों के लिए आज रूढ़ हो गया है। आज निर्गुण साहित्य, निर्गुण मत एवं निर्गुण काव्य-धारा के लिए संत साहित्य, संत मत एवं संत काव्य-धारा पर्याय बन गए हैं।

संत साहित्य की विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए डॉ. शिवकुमार शर्मा ने लिखा है- 'संत काव्य में वाटिका का श्रम साध्य अथवा कृत्रिम सौंदर्य नहीं, उसमें वनराजि की प्रकृतिश्री है। इस काव्य में आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति हुई है, पर वह जन-जीवन में डूबी हुई अनुभूतियों से सम्पन्न है। संत काव्य ने अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात किया है, किंतु इसमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं, बल्कि जन भाषा में उसका मर्म है। संत साहित्य साधना, लोक पक्ष तथा काव्य-वैभव सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।" उक्त उद्धरण में वर्णित 'वनराजि की प्रकृतिश्री' संत काव्य में कैसे आ सकी, इस पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। इस हेतु तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश को समझना समीचीन होगा।

जिस समय संत साहित्य लिखा जा रहा था, उस काल में दो विभिन्न संस्कृतियाँ संगम करने की ओर प्रवृत्त हो रही थीं और मूलाधार था-धर्म। इनमें

हिन्दू संस्कृति तो थी ही, इसके विभिन्न अवयव (शैव, शाक्त, स्मार्त, वैष्णव आदि) भी पृष्ठभूमि में थे। जैन और बौद्ध धर्म था। बौद्ध धर्म से विकृत हुआ वज्रयान सम्प्रदाय, इसमें चौरासी सिद्ध हुए। वज्रयान शाखा से ही नाथ पंथ का उद्भम हुआ। दूसरी थी-इस्लाम-संस्कृति, जो हिन्दू संस्कृति पर विजय प्राप्त करने हेतु चेष्टारत थी। विशुद्ध धर्म का जो सांस्कृतिक पक्ष था, वह आडम्बरों में परिणत होता जा रहा था। 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल में कर्म तो अर्थशून्य विधि-विधान, तीर्थाटन और पर्व स्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था। अर्थशून्य बाहरी विधि विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि की निस्सारता का संस्कार फैलाने का कार्य वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों के द्वारा हुआ। जिस समय मुसलमान भारत में आये, उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ हलास हो गया था।'

भक्तिकाल के उदय तक आदिकाल की इन प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहा और संत-साहित्य पर इसका जबरदस्त प्रभाव पड़ा। डॉ. कामिनी ने अपने आलेख- 'मध्यकाल में हिन्दू मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय' में लिखा है- 'संतों में उदारता के दर्शन पग-पग पर होते हैं। उन्होंने जाति भेद को धकेल दिया था। गुरु उनके लिए सर्वश्रेष्ठ रहा। निर्गुण के द्वारा उनमें 'अभेद' पुष्ट हुआ और आडम्बरों का विरोघ करने का साहस उनमें निरंतर बना रहा। हिन्दू ईश्वर के 'तेज' को स्वीकार करते हैं। मुसलमान अल्लाह के 'नूर' को महत्त्व देते हैं। दादू, नानक, रैदास, रज्जव, मलूक की रचनाएँ इसी भाव को समर्थन देती हैं। 10 भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक है। इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है - विभिन्नता में भी एकता का प्रदर्शन। डॉ. राधावल्लभ शर्मा ने डॉ. आबिद हुसैन को उद्धत करते हुए लिखा है- 'राष्ट्रीय एकता के लिए पाँच बातें आवश्यक मानी गयी हैं-देश, जाति, धर्म, भाषा और संस्कृति। इनके अतिरिक्त आर्थिक और राजनैतिक आकांक्षा की एकता को भी इसकी विशेषताओं में समाहित किया गया है। इसी क्रम में डॉ. शर्मा अपना स्वतंत्र मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं- 'वस्तुतः आज जिस अर्थ में हम राष्ट्र और राष्ट्रीयता का प्रयोग करते हैं, वह आधुनिक युग की देन है। मध्यकाल में तो राष्ट्रीय एकता का स्वरूप सांस्कृतिक एकता के रूप में ही उभर कर आता है और भक्तिकाव्य में इसका पल्लवन हुआ जान पड़ता है।' सांस्कृतिक एकता का सीघा-सीधा तात्पर्य उद्धरण के अनुसार राष्ट्रीय एकता से है और यह एकता जाति, धर्म और भाषा में निहित है। संत कवियों ने इन्हीं में अपने काव्य के स्वर मुखर किये हैं। संत साहित्य में जाति को समन्वित करने की शक्ति अद्‌भुत है। संतों की

दृष्टि में विश्व में मात्र एक ही जाति है-प्राणी-सर्वभूत। वह पशु-पक्षी हो अथवा मानव-सब एक ईश्वर की सृष्टि है। संत पीपा कहते हैं:

एकल माटी कंजर चींटी, भोजन है बहु नाना रे,

अस्थावर जंगम कीट पतंगे, घट-घट राम समाना रे।

संत मूलकदास भी इसी भावना का समर्थन करते हैं :

सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहि लगैं पियारे।

तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहुँ से कोइ नहिं आया ।।

छत्तिस पवन हमारी जाति। हम हीं दिन औ हम हीं राति ।।'"

रैदास भी अपने ईश्वर को व्यापक दृष्टि से देखते हैं :

यावर जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यो हरिराई। 14

निर्गुण संतों ने यद्यपि प्राणि मात्र को समदृष्टि से देखने का प्रयास किया है तथापि मानवीय उत्कृष्टकता को दृष्टिगत रखते हुए मानवीय विभेद उन्हें पसंद नहीं। कबीर तो अनेक स्थलों पर इसका विरोध करते हैं :

पाँच तत्त्व का पूतरा, रज बीरज की बूँद ।

एकै घाटी नीसरा, ब्राह्मण क्षत्री सूद्र ।। 15

मेरा मत है कि संत काव्य की इस सर्वभूतेषु कल्याण भावना को ही सुधारकों ने समाज-सुधार की भावना से ग्रहण किया है और कबीर आदि संतों को समाज सुधारक कहा है। धर्म संस्कृति की आत्मा है, परंतु 'सच्चे धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति प्रेम के रूप में होनी चाहिए और उसका उद्देश्य होना चाहिए - मानव जाति की एकता । प्राणियों के कल्याण में निरत रहकर मनुष्य अपने को जितना पवित्र रख सकता है, उतना रूद्राक्ष और तुलसी-काष्ट की माला पहनकर या ललाट पर त्रिपुण्ड लगाकर या शरीर पर भस्म पोतकर, तीर्थ यात्रा और पवित्र नदियों में स्नान करके, ध्यान-मनन या प्रतिमा-पूजन करके नहीं।" स्पष्ट है संत काव्य में धर्म के इसी रूप को ग्रहण किया गया है। इससे इतर रूप संत काव्य में हो ही नहीं सकता था। क्योंकि 'मानवता' धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म मनुष्य को मनुष्य से दूर करते हैं, उनमें विभेद करते हैं, उनमें घृणा और द्वेष उत्पन्न करते हैं। तभी ते कबीर कहते हैं:

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरक दहू नहीं तेरा।

राखूँ व्रत न मरहम जाँता, तिसही सुमिरू जो रहै निदानाँ।

पूजा करूँ न निमाज गुजारू, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ।

नाँ हज जाऊँ न तीरथ पूजा, एक पिछाण्या नौ का दूजा।

कहैं कबीर भरम सव भागा, एक निरंजन हूँ मन लागा।

भाषा के एकीकरण द्वारा सांस्कृतिक एकता का अनायास प्रयास संत काव्य में हुआ है। कबीर के संबंध में तो यह तथ्य सिद्ध ही है कि उनकी भाषा खिचड़ी है। इस खिचड़ी में अरबी-फारसी का स्वाद है, तो राजस्थानी, ब्रज, पंजावी, खड़ीबोली, अवधी, मालवी, निमाड़ी, बुन्देली, बघेली तथा गुजराती आदि भाषाओं-बोलियों की शब्द-सामग्री भी है। कहीं-कहीं तो संस्कृत की तत्सम शब्दावली भी प्राप्त होती है। यही बात अन्य संतों (दादू, नानक, रैदास आदि) के काव्य में प्राप्त होती है। ये संत कवि देशाटन करते रहते थे इसीलिए हर स्थान का भाषायी रूप इनके काव्य में प्राप्त है। संत काव्य में सांस्कृतिक एकता का महत्त्वपूर्ण तत्त्व भाषायी एकता है।

डॉ. राधावल्लभ शर्मा लिखते हैं कि- 'संत कवियों ने जनभाषाओं में काव्य-रचना की। काव्य-संवेदना का जनतंत्रीकरण किया। जाति-पाति का विरोध कर सामाजिक समता की स्थापना की, आदमी-आदमी का भेद मिटाया। धर्म और उपासना के क्षेत्र में वर्ग-भेद और वर्ण-भेद समाप्त किया। नैतिक आदशों को प्रमुखता देते हुए श्रेष्ठ मानव-मूल्यों की स्थापना की। संत कवि समूचे देश में भ्रमण करते थे। पूर्व को पश्चिम से और उत्तर को दक्षिण से जोड़कर सांस्कृतिक एकता का सूत्र सुदृढ़ किया।' सांस्कृतिक एकता के ये अवयव (जाति, धर्म, भाष आदि) कबीर और उनके समकालीन संतों के काव्य में ही नहीं पाये जाते, अपितु इसके पूर्व महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर एवं नामदेव भी इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों दे चुके थे और प्राणनाथ, अक्षर अनन्य तथा एनसांई जैसे उत्तरवर्ती संतों ने बार-बार अपने काव्य में यही कहा। जब कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न कर रहे थे, सूफी संत भी इसी दिशा में प्रयासरत थे। परंतु दोनों कोटि के प्रयासों में अंतर था। जहाँ निर्गुणी संत हिन्दू-मुसलमानों की एकता के लिए दोनों की भर्त्सना कर रहे थे, वहीं सूफी कवि हिन्दू-मुसलमानों के कथानकों को लेकर उनके सांस्कृतिक समन्वय का ताना-बाना बुन रहे थे। सूफी संतों का प्रयास निर्गुणी संतों की अपेक्षा अधिक सफल रहा। सगुण भक्त कवियों, जिन्हें कतिपय विद्वान संत की श्रेणी में ही परिगणित करते हैं-सूर और तुलसी के काव्य में भी सांस्कृतिक एकता के सूत्र विद्यमान हैं और निर्गुण संत काव्य की अपेक्षा अधिक पुष्ट, स्वस्थ और प्रभावकारी हैं। सूर के कृष्ण को ब्रज-संस्कृतिक के रूप में ग्रामीण संस्कृति तथा तुलसी के राम के रूप में नगर, ग्राम तथा वनांचल संस्कृति में सांस्कृतिक एकता के हृदयग्राही चित्र हैं। परंतु यहाँ इनका विश्लेषण अभीष्ट नहीं है। राजनैतिक एवं भौगोलिक

प्रतिबंध नहीं था। राज्य की सीमाओं तथा राजाओं में भले ही तलवारों की झनझनाहट गूँजती रहती हो, परंतु संतों की खंजड़ी, इकतारे और मंजीरों से निकली मीठी तानें सीमातीत थीं। इस प्रकार पृथक् पृथक् विचारधाराओं की सीमा में बद्ध राज्यों तथा उन राज्यों की वेवश निष्ठा में कैद भोली-भाली जनता तक समरसता का संदेश इन कवियों द्वारा पहुँचाया गया। इनके काव्यमय उपदेशों से प्रभवित होकर अनेक राजाओं ने धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का परिचय देते हुए अपने राज्यों में सभी धर्मों को समान आदर दिया और उन्हें प्रोत्साहित किया।

'संस्कृति' शब्द का व्यापक अर्थ है। यह मानवीय चिदवृत्तियों का प्रत्यक्ष रूप है। इस रूप का प्रकाट्य ललित कलाओं एवं संस्कारों के द्वारा होता है। इन कलाओं में काव्य-कला का स्थान सर्वोपरि है। संत काव्य में, संस्कृति में समाहित विभिन्न अवयवों (जाति, धर्म, भाषा आदि) का अद्‌भुत समन्वय है। यह समन्वय मानव का है, मानवीय भावनाओं का है। संत-काव्य के उदार दृष्टिकोण का उद्देश्य ही मानवीय संवेदनाओं को जागृत एवं झंकृत करने का रहा है और इसमें संत-काव्य को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। संत-काव्य की सीमा में केवल निर्गुण कवियों को आबद्ध किया गया है, पर तुलसी, सूर जैसे भक्त कवियों को भी संत कहा जाता है। इनके काव्य में भी सांस्कृतिक एकता अपनी सम्पूर्णता सहित विद्यमान है। इनके काव्य में सांस्कृति के विविध पक्षों के दृश्य हैं, जो मनोरम हैं। संत काव्य में वर्णित विषय वस्तु में सांस्कृतिक एकता के ऐसे सूत्र विद्यमान हैं, जिसमें पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक सारा राष्ट्र मजबूती से आबद्ध है।

संदर्भ :

1. हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ.77
2. उत्तर भारत की संत परंपरा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ.139
3. कबीर ग्रंथावली: सं. डॉ. श्यामसुंदर दास, साखी-69
4. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियों डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ.130
5. कबीर ग्रंथावली: सं. डॉ. श्यामसुंदर दास, पृ.12
6. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ.215
7. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ.134
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.11
9. वही, पृ.64
10. सांस्कृतिक एकता और समकालीन हिन्दी साहित्य सं. डॉ. राधावल्लभ शर्मा, पृ.16
11. वही, पृ.44
12. महायोगी वैष्णव संत श्री पीपाजी राजेन्द्र दास, पद 67
13. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.92

14. वही, पृ.83

15. कबीर अमृतवाणी अभिलाष दास, साखी-25

16. हमारी संस्कृति : डॉ. सर्वपल्ली राधकृष्णन, पृ.21

17. कबीर ग्रंथावली : सं. डॉ. श्यामसुन्दर दास, पद 33

18. सांस्कृतिक एकता और समकालीन हिन्दी साहित्य : डॉ. राधावल्लभ शर्मा, पृ.50

कबीर-काव्य और बौद्ध-दर्शन

कबीर युगांतरकारी कवि थे। कबीर ने मसि कागद और कलम को बिना गहे ही केवल आखिन देखी अनुभव के द्वारा समाज को जो कुछ प्रदान किया, वह अनुपम है, अद्वितीय है और अमूल्य है। कबीर के प्रदेय को समाज ने उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे उनके निधन पर उनके फूलों को हिन्दू और मुसलमानों ने अपने-अपने संस्कारों के अनुसार ग्रहण किया था। ठीक इसी प्रकार उनके काव्य को ग्रहण किया गया। कट्टरपंथियों ने उसे उपेक्षा की दृष्टि से ग्रहण किया, समाज सुधारकों ने उन्हें समाज सुधारक के रूप में ग्रहण किया और काव्य-प्रेमियों ने उनका काव्य-कला की दृष्टि से मूल्यांकन किया। आज की तारीख में जनवादी लेखक उन्हें अपनी विचारधारा का आदि हिन्दी कवि स्वीकार करते हैं तो कबीर पंथी धार्मिक दृष्टिकोण से उन्हें अपना सद्‌गुरु मानते हैं। तात्पर्य यह है कि कबीर सबके हैं और किसी के भी नहीं हैं क्योंकि वे स्पष्ट उद्घोषण करते हैं कि मैं उसी का हूँ, जिसने अपना घर (माया-मोह) ज्ञान के मुखड़े से जला दिया हो:

हम घर जाल्या आपणां लिया मुराड़ा हाथि।

जब घर जालौं तास का, जो चलै हमरे साथि।'

कबीर का जब आविर्भाव हुआ, उस समय तक जैन एवं बौद्ध मतों ने अपने पैर भली-भाँति जमा लिये थे और इस्लाम धर्म आपने पैर जमा रहा था। शाक्त वैष्णव, शैव सब एक दूसरे के विरुद्ध अपनी-अपनी तलवारें भांज रहे थे। कबीर अपनी आँखों से नित प्रति इनकी कलाबाजियों देख रहे थे। वे इनके लिखित दार्शनिक विचारों से भले ही परिचित न हों, पर इस तथ्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि वे इन्हें जानते नहीं थे। कबीर ने इन पंथों का उल्लेख अपनी एक अष्टपदी रमैनी में किया है, जिससे सिद्ध है कि कबीर इन पंथों से परिचित थे :

अरू भूले सठ दरसन भाई, पाखण्ड भेष रहे लपटाई।

जैन बौद्ध अरू साकत सैना, चारवाक चतुरंग बिहूना ।।

जैन जीव की सुधि न जाने, पाती तोरि देहुरै आँनै ।।

कबीर काव्य पर वैष्णवों का तो स्पष्ट ही प्रभाव है। कबीर ने स्वयं इसे

स्वीकार किया है :

मेरे संगी दोइ जणाँ एक वैष्णों एक रॉम।

वो है दाता मुकुति का, वो सुमिरावै नाँम।।

वैष्णवों का प्रभाव ही था कि कबीर काव्य में अहिंसा का प्रतिपादन हुआ :

जीव हने हिंसा करै, प्रगट पाप सिर होय।

निगम सुनी अस पाप ते भिस्त गया नहिं कोय।।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि वैष्णव सम्प्रदाय से उन्होंने अहिंसा का तत्त्व ग्रहण किया जो कि पीछे होने वाले सूफी फकीरों को भी मान्य हुआ। यह भी एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि कबीर ने शाक्तों की अपेक्षा वैष्णवों को श्रेष्ठ कहा है :

साषत वांभण मति मिलै, वैसनों मिलै चंडाल ।

अंक माल दे भेंटिये, मानो मिले गोपाल ।।

कबीर पर सूफियों का भी प्रभाव है और इस्लाम का भी इस्लाम के सम्पर्क और प्रभाव के कारण कबीर आदि संतों की विचारधारा एकेश्वरवाद से प्रभावित हुई। इस्लाम की देन निषेधात्मक अधिक रही, विधेयात्मक कम। मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद के वहिष्कार का मूलाधार इस्लाम धर्म में ही है। इस्लाम ने सामाजिक असमानता को दूर करने की भी चेष्टा की। सत्य यह है कि एकेश्वरवाद उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः कबीर प्रभृति संत कवियों ने हिन्दू-मुसलमान दोनों को एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया। पर इससे बड़ा सच यह है कि इन सबाक विकास भारतीय धर्म साधना में इस्लाम के प्रचार से पूर्व ही हो चुका था। हिन्दू-मुस्लिम एकीकरण का प्रयास अवश्य ही कबीर का मौलिक अवदान कहा जा सकता है। वैष्णव सूफियों एवं इस्लाम के अतिरिक्त कबीर पर जिन सम्प्रदायों का गहरा प्रभाव पड़ा, उनमें रामानंदी सम्प्रदाय, महाराष्ट्र का विठ्ठल भक्ति सम्प्रदाय और सर्वाधिक ग्राह्य प्रभाव नाथपंथ का पड़ा।

डॉ. व्रजभूषण शर्मा इन प्रभावों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-वास्तव में कबीर पर विद्वानों द्वारा उल्लेखित प्रभाव तो किसी सीमा तक स्पष्ट हैं, किंतु उनके प्रेरणा स्रोत तो उनमें ही प्रच्छन्न रूप में निहित हैं, उनके ब्रह्म की भाँति वे भी अदृश्य हैं और उनके निराकार होकर साकार होने का प्रयत्न उनकी वाणी द्वारा हुआ है। कबीर काव्य पर बौद्ध दर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यद्यपि कवीर ने बौद्ध दर्शन का कोई अध्ययन नहीं किया था। उपर्युक्त कथन किया जा चुका है कि कबीर उस समय तक प्रचलित प्रायः समस्त सम्प्रदायों से प्रभावित है। कबीर

काव्य पर बौद्ध दर्शन का क्या और कितना प्रभाव पड़ा, यह जानने के पूर्व बौद्ध दर्शन को जानना होगा, उसको परखना होगा। और समझना होगा।

महात्मा बुद्ध चार आर्यसत्यों को मान्यता देते हैं-दुख आर्यसत्य, दुख समुदाय आर्यसत्य, दुख निरोध आर्यसत्य एवं दुख निरोध की ओर से जाने वाला आर्यसत्य । आचार्य अभिलाषदास इनकी विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखते हैं-दुख आर्यसत्य, ऐसा दुख है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। वस्तुतः जीवन धारण ही दुख है। दुख आर्यसत्य प्रत्यक्ष दुख है। जन्म, जरा, रोग, प्रिय वियोग, अप्रिय संयोग, मृत्यु आदि का इसमें समावेश है। दुख समुदाय आर्यसत्य दुख जिससे उदय होता है, वह कारण भी है। इसमें दुख के बारह कारणों की श्रृंखला है, जिसमें तत्त्व ज्ञानहीनता, चैतन्यता, विषयों का भोगादि आते हैं। दुख निरोध आर्यसत्य में दुखों का निरोध एवं नाश होता है। इसके आठ क्रमिक मार्ग हैं, जिन्हें अष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। यदि आप एक श्लोक में महात्मा बुद्ध का शिक्षा सार जानना चाहते हैं तो : **सब्बपापस्य अकरणं कुसलस्सुपसंपदा ।**

सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानुसासनम् ।।

अर्थात् सारी बुराइयों पापों को न करना, भलाइयों को करना और अपने मन को अपने वश में करना बुद्ध की शिक्षा है।

बुद्ध दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कबीर काव्य के मूल्यांकन से विदित होता है कि कबीर का प्रायः समूचा काव्य ही बौद्ध दर्शन से प्रभावित है। कबीर की माया का स्वरूप भी दुखमय है। सोदाहरण इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्य श्यामसुन्दर दास लिखते हैं-बुद्धदेव के दुख सत्य सिद्धांत के समान ही कबीर का सिद्धांत है कि यह संसार दुख का घर है :

दुनिया भाड़ा दुख का मरी मुँहामुँह मूष। अदया अलह राम की कुरहै ऊँणी कूष।

इस दुख का ज्ञान उन्हीं को हो सकता है जिन्होंने मायात्मक अज्ञानावरण हटा दिया है। माया में पड़े हुए लोग तो इस दुःख को सुख ही समझते हैं :

सुखिया सब संसार है, खावै अरू सोवै।

दुखिया दास कबीर है, जागै अरू रोवै।। 10

बुद्ध का प्रभाव कहीं-कहीं कवीर पर इतना सघन है कि अद्‌भुत भाव साम्य परिलक्षित होता है। धम्मपद के ब्राह्मणवग्गों में बुद्ध कहते हैं :

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो ।

यम्हि सच्चच धम्मोच सो सुची सोच ब्राह्मणा।।"

अर्थात् मनुष्य जटा बढ़ाने से, गोत्र से, जन्म से ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें

सत्य और धर्म है वह पवित्र है, वही ब्राह्मण है।

कबीर ने उपर्युक्त भाव भूमि पर अनेक साखियों और पदों का सृजन किया है, कतिपय दृष्टांत अवलोकनीय हैं :

कबीर कुल तो सो भला, जिहि कुल उपजै दास ।

जिहि कुल दास न उपजै, सौ कुल आक पलाश ।।

बुद्ध का कथन है :

सब्बे संखारा दुक्खाति यदा पंचाय पस्सति ।

अथ निब्बिन्दति दुक्खे एक मगो विसुद्धिया ।।'

कबीर की भावभूमि है :

दुखिया मूवा दुख कों सुखिय सुख कौ झूरि।

सदा अनन्दी रामे के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि।।"

बौद्ध दर्शन के प्रभाव को संत काव्य पर रेखांकित करते हुए डॉ. त्रिलोकीनाथ दीक्षित अपने निबंध-निर्गुण भक्तिकाव्य में लिखते हैं कि उस युग में ज्ञानमार्गी संत

कवियों ने धार्मिक सांस्कृतिक क्षेत्र की रूढ़ियों की उपेक्षा एवं आलोचना की है। उन्होंने निगम, आगम, पुराण आदि को महत्त्वहीन प्रमाणित किया। किंतु बौद्धों का दुखवाद एवं शून्यवाद, बज्रयानियों की तांत्रिक साधना, सिद्धों की गूढोक्तियों के रूप में उलटबांसियों, नाथ सम्प्रदाय की योग साधना तथा काव्य-साघना किसी न किसी रूप में संत काव्य में समाहित हुई। संत कवियों ने वैदिक साहित्य, वैदिक परंपराओं एवं ब्राह्मचारों की जो आलोचना आद्योपांत की है, वह सब बौद्ध धर्म का ही प्रभाव है। स्पष्ट है कि कबीर के काव्य में वेद पुराणों के कथनों और मान्यताओं का जो जोरदार विरोध हुआ है, वह बौद्ध दर्शन के कारण हुआ है। ढोंग और धार्मिक पाखण्डों के विरोध का कारण भी बौद्ध दर्शन है। कबीर ने अपने काव्य में जगह-जगह इन पर चोट की है:

राम राइ इहिं सेका भल मानें, जै कोई राम नाम तत जानें,

रे नर कहा पषालै काया, सोतन चीन्हि जहाँ थ आया।।

कहाँ विभूति जटा पट बाँधे, काजल पैस हुतासन साधे ।

र राम माँ दोई आखर सारा। कहें कबीर तिहुँ लोक पियारा। 16

बुद्ध का दुखवाद और बुद्ध की करुणा का सीघा-सीधा प्रभाव कबीर के काव्य पर परिलक्षित होता है। बुद्ध के दुखवाद के मूल में है कि संसार में दुख ही दुख है, कोई सुखी नहीं है, सारे प्राणी दस दुख के ताप से उत्तप्त हैं। कबीर इसे बार-बार दोहराते हैं :

दाघ भली ता सब दुखी, सुख न देखौं, कोई।

जहाँ कबीरा पग धरै, जहाँ सुक धीरज होई ।।"

यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि कबीर बुद्ध के तात्विक दर्शन से तो प्रभावित थे ही, बौद्ध धर्म के ब्राह्मचारों से भी इनका काव्य पूर्णतः प्रभावित था। सिद्ध, नाथ आदि जो सम्प्रदाय देश में प्रचलित हुए, वे सब बौद्ध धर्म के ही विकृत रूप थे-बौद्ध धर्म विकृत होकर ब्रजयान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ब्रजयान, सहजवान, हीनयान आदि सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के विकृत रूप थे। इनकी साधना पद्धति में वामाचार योग, तंत्र, कुण्डलिनी जागरण, हठयोग आदि का प्राधान्य था। कबीर के काव्य में इनका प्राधान्य है। अस्तु, कबीर पर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। कबीर-काव्य में इनका वर्णन परिलक्षित होता है:

ऐसी रे अवधू की बाणी। ऊपर कूवटा तलि भरि पाणी ।।

जब लग गगन जोति नहिं पलटै, अविनासी सूचित नहिं चिहुँटें।

जब लग भंवर गुफानहिं जानै, तो मेरा मन कैसे मानै।

जब लगि त्रिकुटी संधिन जानै ससिहर के घरि सूर न आनै। 19

कबीर विश्व कवि हैं और विश्व कवि वही हो सकता है जिसमें विश्व की पीड़ा को समझने की क्षमता हो। कबीर में यह क्षमता बौद्ध दर्शन से प्राप्त हुई। उनके काव्य का आंतरिक पक्ष बुद्ध के दुख और करुणा से सज्जित है। निश्चित ही कबीर काव्य बौद्ध दर्शन से ओतप्रोत है। इस काव्य में बुद्ध का दुखवाद है और बुद्ध की करुणा है तथा दुख से मुक्ति प्राप्त करने के उपाय भी हैं।

संदर्भ :

1. कवीर ग्रंथावली सं. डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. 281
2. कबीर ग्रंथावली सं. डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ. 182
3. वही, पृ. 39
4. कबीर अमृतवाणी सं. अभिलाष दास, पृ. 223
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 80
6. कबीर ग्रंथावली: सं. डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. 229
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 138
8. कबीर चिंतन डॉ. ब्रजभूषण शर्मा, पृ. 23
9. संसार के महापुरुष: अभिलाष दास, पृ. 66
10. कबीर ग्रंथावली: सं. डॉ. श्यामसुंदर दास, पृ. 27
11. धम्मपद : भाष्यकार अभिलाषदास, पृ. 26

12. कबीर ग्रंथावली : सं. डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. 229

13. धम्मपद : भाष्यकार अभिलाष दास, पृ. 198

14. कबीर ग्रंथावली : सं. डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. 223

15. हिन्दी साहित्य का इतिहास सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 139

17. वही, पृ. 322

16. कबीर ग्रंथावली : सं. डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. 383

18. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 11

19. कबीर ग्रंथावली: सं. डॉ. श्यामसुंदर दास, पृ. 189

कबीर-काव्य में सुख

'सुख' शब्द की व्युत्पत्ति सुख अच् से हुई है।' इस शब्द में दो वर्ण हैं-सु+ख । 'ख' का अर्थ है-आकाश और 'सु' विशेषण है, जो आकाश के प्रशस्त, निर्मल, उन्मुक्त आदि गुणों को व्यक्त करता है। इसी प्रकार मन जब आकाश की तरह निर्मल, उन्मुक्त और वीतविघ्न रहता है, तब जीवन शम और सहजता का अनुभव करता है। सुख आत्मा का धर्म है अथवा मन का दार्शनिकों में इस विषय को लेकर मत वैभिन्न है। न्याय और वैशेषिक दर्शन के मन से सुख आत्मा का गुण है। आत्मा के 24 गुण हैं, जिनमें सुख एक है। यह सुख दो प्रकार का है-1. नित्य सुख, 2. जन्य सुख । नित्य सुख परमात्मा के विशेष सुख और जन्य सुख जीवात्मा के विशेष सुख के अंतर्गत है। सांख्य और पातंजल के मत से सुख प्रकृति का धर्म है। सत, रज और तम गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। सत्व गुण का धर्म सुख है। 'गीता' में श्रीकृष्ण ने तीन प्रकार के सुखों की चर्चा की है-1. सात्विक, 2. राजसिक, 3. तामसिक। ज्ञान, वैराग्य और ध्यान आदि के द्वारा सात्विक सुख प्राप्त होता है। विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से राजसिक सुख उत्पन्न होता है। आलस्य और उन्माद आदि के कारण तामसिक गुण उत्पन्न होता है। मनुष्य को सच्चे सुख की अनुभूति तभी होती है, जब तन-मन के साथ उसकी आत्मा स्वस्थ एवं प्रसन्न हो। आत्म-सुख से ही अन्य सुख प्राप्त होते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि हम अद्वैत भाव को कभी न भूलें। वास्तव में अद्वैत ही हमारी संस्कृति की आत्मा है।

मानव की शाश्वत सुख की कामना उसके अमृत तत्त्व में ही निहित रहती है। वस्तुतः उसके सुख का उद्देश्य भौतिक सुख की प्राप्ति नहीं है अपितु कुछ और ही है। यह 'कुछ' और अथवा यह 'अतिरिक्त तत्त्व' ऐसा है, जो मानव को अपनी और आकृष्ट कर सके, यह है- 'सत्य'। सत्य की प्राप्ति में ही सच्चा सुख है। भौतिक सुखों एवं सांसारिक सम्पत्तियों से तो मनुष्य का मन

कभी विमुख भी हो सकता है, पर सतय से नहीं क्योंकि सत्य तो मानव का सहज स्वरूप है और मानव अपने सहज स्वरूप से विमुख कैसे हो सकता है? मनुष्य की आत्मोन्नति ही

सत्यान्वेषण शक्ति में छिपी हुई है। यह प्रकट तभी होती है, जब उसके हृदय में पर के प्रति करुणा हो और सांसारिक आसक्तियों से अरुचि हो :

तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा न जाइ।

ज्वाला ते फिरि जल भया, बुझी बलंती लाई।।"

सत्य के इसी अन्वेषण का प्रयास मनुष्य को करना चाहिए। एक दिन यह प्रयास सार्थक होगा। स्वामी से जब साक्षात्कार हो जाएगा तब मन को सच्चा सुख प्राप्त होगा। जब यह सच्चा सुख प्राप्त होगा तो हृदय से सारे विकार स्वतः ही दूर हो जायेंगे :

सचु पाया सुख उपनाँ, अरु दिल दरिया पूरि।

सकल पाप सहजै गये, जब साईं मिल्या हजूरि।।

सांसारिक खजाना तो नश्वर है, पर हरि-दर्शन सुख की ऐसी निधि प्राप्त होती है जो दिन-रात एक सी रहती है। वह कभी नष्ट नहीं होती। मोह जनित सारे कष्ट और ताप दूर हो जाते हैं :

हरि संगति सीतल भया, मिटा मोह की ताप।

निस वासुरि सुखनिध्य लहा, जब अंतरि प्रगट आप।।

कबीर प्रकारन्तर से पुनः अपनी मान्यता स्पष्ट करते हैं कि आनंद रूप सुख और उसका सुखद प्रभाव केवल भक्ति में है। भक्ति रस का पान जो करता है, उसकी सांसारिक कष्टों के द्वारा उत्पन्न होने वाली थकान दूर हो जाती है अर्थात् विषय-वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। कबीर उदाहरण के द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे पका हुआ घड़ा दोबारा कुम्हार के चाक पर नहीं चढ़ता, उसी प्रकार ब्रह्मानंद के सुख की अनुभूति होने पर उसे (साधक को) सांसारिक सुख तुच्छ लगते हैं :

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।

पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि।।"

कबीर तो यहाँ तक कहते हैं कि मैंने संसार के सारे रसों को चखकर देखा अर्थात् संसार के सारे सुखों का उपभोग किया, परंतु इसी निष्कर्ष पर पहुँचा की ब्रह्म सुख के सामन अन्य कोई सुख नहीं है। यदि ब्रह्म सुख रूपी रसायन का रंचमात्र अंश भी हृदय में प्रविष्ट हो जाता है तो समूचा जीवन ही स्वर्ण हो जाता है-ऐश्वर्यपूर्ण हो जाता है अर्थात् स्वर्ण सम खरा-निर्मल हो जाता है। यह सुख दुर्लभ है, अनुपम है :

सबै रसांइण मैं किया, हरि सा और न कोई।

तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होई।।

मनुष्य माया के बंधन के कारण सांसारिक सुखों के प्रति आकृष्ट होकर उसमें आबद्ध हो जाता है। इस माया-पाश से मुक्त होना असंभव तो नहीं, पर कठिन अवश्य है। यह तथ्य निश्चित है कि जब तक व्यक्ति सांसारिक सुखों को जीवन का अंतिम एवं एकमात्र लक्ष्य मानेगा तब तक उसे 'सच्चे सुख' की प्राप्ति तो क्या उसका आभास भी नहीं होगा। अतः माया का उच्छेदन आवश्यक है। इसका उच्छेदन भी सत्पुरुष ही कर सकते हैं:

कबीर माया ढाकड़ी, सब किसही कौं खाइ।

दाँत उपाणौं पापड़ीं, जे संतों नेड़ी जाई।।

सांसारिक सुखों की परिधि में समस्त भौतिक सुखों की गणना हो जाती है। स्वाद सुख और नारी सुख भी इसमें परिगणित हैं। कबीर ने इन दोनों क्षणभंगुर सुखों को त्याज्य कहा है:

नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।

बेगि छोडि पछताइगा, हवै है मूरति भंग।।"

कबीर की दृष्टि में-मन, इन्द्रियों के भोग के द्वारा सुख की कामना करता है इसीलिए वह हरि स्मरण से दूर भागता है। सुख की इच्छा करने पर दुःख पहले आ जाता है, इसीलिए सुख माँगना अच्छा नहीं लगता। विषय-वासनाओं के जिस सुख से शिव और ब्रह्मा भी भयभीत हैं, उसी सुख को हमने सत्य और स्थायी मान लिया है। जब से इस सुख की आकांक्षा छोड़ दी, तभी से दुःख भी भाग गया। जीव दिन-रात भोगों में लिप्त रहता है, वह नरक का पंथ बनाता है। चंचल बुद्धि त्यागने से ही ईश्वर में अनुरक्ति हो सकती है और तभी सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। बिना इस उपाय के सच्चा सुख और कहीं उपलब्ध नहीं :

बिषिया अजहूँ सुख आसा, हूँण न देइ हरि के चरन निवासा।

सुख मांगे दुख पहली आवै, तातें सुख माँग्या नहीं भावै ।।

जा सुख थें सिव बिरंचि डराना, सो सुख हमहु सब करि जाना।

सुखि छयाडया तब सब दुख भागा, गुरु के सबद मेरा मन लागा ।।

निस बासुरि विषै तनाँ उपगार, बिषई नरकि न जाताँ बार।

कहै कबीर चंचल मति त्यागी, तब केवल राम नाम त्यौं लागी ।।"

कबीर बार-वार उसी सुख को पाने की बात कहते हैं, जो सच्चा है। इसी सुख में रमो। वन में रहकर भी यदि विषय-विकार नहीं छूटे तो संन्यासी बनना भी व्यर्थ है। ऐसे विरले व्यक्ति भी हैं जिन्होंने घर रहकर ही सच्ची साधना की है। न ही वे वन में गये, न जटा-भस्म रखने लगाने का आडम्बर रचा। ऐसे लोगों ने मन को वश में कर संसार ही जीत लिया :

सार सुख पाइये रे, रंगि रमहु आत्मा राम ।।

बनह बसे का कीजिए, जे मन नहीं तजै बिकार।

घर बन तत समि जिनि किया, ते बिरला संसार ।।

का जटा भसम लेपन किये, कहा गुफा मैं बास ।

मन जीत्या जग जीतिये, जौ विषया रहै उदास ।। 12

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर ने नित्य सुख को श्रेष्ठ तथा जन्य सुख को हेय एवं नश्वर माना है। भौतिक सुखों का त्याग, माया के बंधन से मुक्ति का प्रयास और भगवद् भक्ति-ये तीन रत्न ही नित्य सुख को प्रकाशित करने में समर्थ हैं। यही सुख की अवधारणा कबीर-काव्य में वर्णित है।

संदर्भ :

1. संस्कृत-हिन्दी कोश: वामन शिवराम आप्टे, पृ. 1114

2. मानव-मूल्य परक शब्दावली का विश्वकोश: सं. डॉ. धर्मपाल मैनी, पृ. 2151

3. हिन्दी विश्व कोश सं. नागेन्द्र नाथ वसु, पृ. 269 4. कबीर ग्रंथावली: सं. डॉ. श्यामसुंदर दास, पृ. 11

5. वही, 26, पृ. 11

6. वही, 30, पृ. 11

7. वही, पृ. 13

8. वही, 8, पृ.13

9. वही, पृ. 26

10. वही, पृ. 31

11. वही, पृ. 89

12. वही, पृ. 142

मधुमालती में प्रेम-व्यंजना

सूफी काव्य का प्राण-तत्त्व प्रेम (इश्क) है। इस प्रेम-तत्त्व की जितनी विशद व्याख्या 'मधुमालती में हुई है, उतनी संभवतः किसी अन्य सूफी ग्रंथ में नहीं हुई है। मंझन ने इस प्रेम तत्त्व को जन्म-जन्मांतर से संबद्ध दिखाया है तथा प्रेम के द्वारा ही सूफी साधना के गूढ़ रहस्य को प्रकट किया है। मानव-जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाला न जप है, न तप, न ज्ञान, न ध्यान, न वैराग्य, न पूजा, वह केवल प्रेम के बल पर दिव्यता प्राप्त करता है।

सूफी साधना का चरम लक्ष्य ईश्वरीय प्रेम है और इस प्रेम तक मानव लौकिक प्रेम के माध्यम से पहुँच सकता है। इस प्रकार के कवि लौकिक प्रेम को ही अलौकिक प्रेम का सोपान मानते हैं। इसीलिए इनकी रचनाओं में प्रेम-व्यंजना नायक और नायिका के रूप में होती है, किंतु संकेत अलौकिक प्रेम की ओर ही रहता है।

मंझन प्रेम को सृष्टि का मूलभूत कारण मानते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति एवं उसके मूल में प्रेम ही व्याप्त है। इस जगत में उसी का जीवन धन्य है, जिस के हृदय में प्रेम की पीर उत्पन्न हुई है। जिसके हृदय में प्रेम व्याप्त नहीं है, उसने 'सहज' का कुछ भी भेद नहीं जाना। प्रेम की व्याख्या करते हुए कवि कहता है कि प्रीति ऐसी होनी चाहिए, जिस के आदि और अंत में स्नेह हो। इस प्रकार की प्रीति इस लोक में तथा परलोक में यदि निभ जाए, तो इसमें संदेह ही क्या है? प्रेम को सर्वस्व मानते हुए वे कहते हैं कि संसार में जहाँ तक मैंने देखा एवं सुना है, प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है :

देखा सुना जहाँ लसि होई। प्रेम बिबर्जित किछु नहिं सोई।

मंझन प्रेम को एकनिष्ठ मानते हैं। प्रेमी अपने प्रिय के अतिरिक्त किसी अन्य का स्मरण नहीं करता। मनोहर मधुमालती के प्रेम-दर्शन के पश्चात् जब समस्त राजपाट त्यागकर उस की खोज में निकल पड़ता है तब रास्ते में एक वन में उसकी भेंट पेमा नामक सुंदर युवती से होती है। कवि ने पेमा के रूप सौंदर्य का चित्रण

भी मधुमालती से कम नहीं किया, किंतु मनोहर अपने प्रेम-पथ पर दृढ़ रहता है और पेमा के साथ भाई-बहन का रिश्ता जोड़ता है।

प्रेम को चिरंतन एवं शाश्वत मानते हुए कवि कहता है कि प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर मनोहर इस प्रेम का इतिहास मधुमालती के सम्मुख रखता है। वह कहता है कि उस की और मधुमालती की प्रीति पूर्व जन्म की है। उस से उस की प्रीति और विरह जन्य दुख का संबंध उसी क्षण से है, जिस क्षण से विघता ने उसके प्राणों की सृष्टि की। उसकी प्रीति के जल से ही 'मनोहर' के शरीर का निर्माण हुआ है।

प्रेम के महत्त्व को बताते हुए कवि कहता है कि प्रेम विश्व में एक अमूल्य रत्न की भाँति है जिस के अंतःकरण में प्रेम है उसी का जन्म धन्य है। इसी प्रेम के लिए विधाता ने स्वयं को प्रेरित किया है और विश्व का निर्माण भी प्रेम के लिए ही हुआ है। प्रेम की ज्योति से ही संपूर्ण विश्व प्रकाशित हुआ है। प्रेम अद्वितीय है। चारों युगों से यही ध्वनि प्रतिध्वनित होती रही है कि प्रेम-पथ पर स्वयं को बलिदान कर देने वाला मानव ही राजा है। प्रेम रूपी बाजार चारों दिशाओं में व्याप्त है।

1.प्रेम और दुख :

मंझन प्रेम और दुख में घनिष्ठ संबंध मानते हैं। मनोहर मधुमालती से कहता है कि जहाँ दुख होगा वहीं प्रीति होगी। जिस के शरीर में दुख नहीं, वह बेचारा प्रीति की बात क्या जाने? जिस दिन मैंने सुना कि सृष्टि उत्पन्न हो गई है, उसी दिन प्रीति रूपी पक्षी को उड़ा दिया। उसने तीनों लोकों में ढूँढ़कर उत्तर दिया 'दुख मनुष्य की आशा है, जहाँ दुख होगा, वही मेरा निवास होगा।' इतना होने पर भी प्रेमी प्रेम-संबंधी इस दुख को अपने आप को देकर प्राप्त करता है। वास्तव में मरण के बिना इस प्रेमामृत की प्राप्ति असंभव है।

यह प्रेम-मार्ग अत्यंत जोखिम का मार्ग है। इस पर गमन करना सरल नहीं है। इस प्रेम की चिता पर चढ़कर कोई प्राणों का लोभ न करेगा। जो जीव प्रियतम के निमित्त लग जाता है, वह दोनों लोकों में शोभित होता है। इसी प्रकार शक्ति भर 'मरजीवा', समुद्र में तैरकर यदि पार उतर जाता है तो सिद्धि साहस की दासी बन जाती है। प्रेम का यह दुख प्रेमी और प्रेमिका दोनों को समान रूप से भोगना पड़ता है। मंझन कहते हैं कि इस दुख से किसी को उबना नहीं चाहिए। दुख का अंत सुख में होता है। संसार में दो दुखों के बीच सुख की अवस्थिति इस प्रकार होती है, जिस प्रकार काली घटा के मध्य श्वेत जलधारा होती है। जगत में दुखों के मध्य ही सुख की स्थिति है। यह निश्चित रूप से जान लो, यदि अंधेरी निशा है, तो

उज्ज्वल प्रभात भी है:

दुइ दुख बीच सुक्ख है निज जानहुँ सयंसार।

जइ अति रैनि अंधेरी तो अजोर भिनुसार ।।

प्रेम और विरह : मंझन प्रेम और विरह दोनों को एक-दूसरे का पर्याय मानते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार आदि से ही सृष्टि में प्रेम प्रविष्ट हुआ, उसी प्रकार यह भी कहते हैं कि सृष्टि के मूल में विरह जग में आया। प्रेम-मार्ग पर चलने वाले को भी वे राजा कहते हैं और उसे भी त्रिभुवन का राजा मानते हैं, जिसे देव ने विरह का दुख दिया है। जिसके अंतःकरण में प्रेम है, उस के जीवन को भी मंझन धन्य मानते हैं और जिसको विरह का दुख है उसके जीवन को धन्य कहा है। मंझन का प्रेम के संबंध में कथन है कि प्रेमी काल से बच जाता है। दूसरी ओर विरह के संबंध में कहते हैं कि विरह का जीव जिस के शरीर में होगा, वह अमर रहेगा।

'मधुमालती' में नायक और नायिका दोनों ही समान रूप से विरह में व्याकुल होते हैं। मंझन विरह के दुख को दुख नहीं मानते, अपितु उसे सुख के रूप में ग्रहण करते हैं। यह दुख-सुख को देने वाला है :

कौनि जीभि बकतौं दुख बाता।

दुख के रूप सुख निधि के दाता ।।

विरह सर्वसुलभ वस्तु नहीं है। यह पूर्वजन्म के पुण्यों के बिना प्राप्त नहीं होता। विरह-बुद्धि एवं सिद्धि की प्राप्ति कोई पाठ पढ़ने से भी नहीं होती। जिस पर उस दयालु ईश्वर की कृपा होती है, वहीं से निधियाँ प्राप्त कर सकता है। मंझन ने अपने काव्य में नायक-नायिका और सहनायक-सहनायिका दोनों का मिलन दिखाकर यह सिद्ध किया है कि प्रेम की चरम परिणति मिलन में ही होती है। मंझन जीव को संबोधित करते कहते हैं कि हे जीव, यदि तू काल का भय मानता है, तो तू प्रेम की शरणशाला में जाने के नियम को अंगीकार कर। तब दोनों लोकों का काल भय नष्ट हो जाएगा, क्योंकि इस जगत में प्रेम ही शरणशाला है। वह एक ऐसा स्थान है, जहाँ अमृत शोभित होता है। जब तक कविता का शरीर बना रहता है, संसार में प्रेमी का नाम भी बना रहता है।

2. प्रेम-साधना :

सूफी दर्शन के अनुसार लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम का साधन है। इसमें प्रेम को ही सर्वस्व माना गया है। यही उस परम तत्त्व तक पहुँचने का एकमात्र साधन है। सूफी दर्शन में नायिका को परमात्मा (साध्य) तक पहुँचने की चेष्टा करता है।

अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बंदे को अपनी रुह (आत्मा) का परिष्करण करना पड़ता है और उसके लिए उस को साधना की चार अवस्थाओं तथा सात मंजिलो को पार करना पड़ता है। इस आध्यात्मिक यात्रा की चार अवस्थाएँ-शरीयत, तरीकत, मारिफ़त तथा हकीकी और सात मंजिलें हैं- इश्क (प्रेम), जहद (संघर्ष), म्वारिफ (प्रज्ञा), वज्द (भावातिरेक), हकीकी (परम सत्य की अनुभूति), वस्ल (परम सत्य की स्थिति), फना (अहम में पूर्णलय)। फ्ना की पूरक मंजिल बका (शाश्वत आनंद) है। मंझन ने 'मधुमालती' में इन सभी का संकेतात्मक वर्णन किया है :

अगम पौरि चारिहु दिसि लगाई।

आसपास बहु पहरू जपगति ।

भंवरी सात मंदिल कै जागहिं बीर अपार।

तहं कैसे तुम्ह आएहु जहं न समीर संचार।

अर्थात चार दिशाओं की अगम पौरियाँ तथा सात भौरियाँ क्रमशः चार अवस्थाओं और सात मंजिलों की व्यंजक हैं। 'मधुमालती' में मनोहर और मधुमालती की लौकिक प्रेमकथा के माध्यम से कवि ने यथावसर सूफी प्रेम-साधना की अभिव्यंजना का सफल प्रयास किया है।

ब्रह्म का प्रतीक मधुमालती :

मंझन ने मधुमालती को ब्रह्म के विराट सौंदर्य के प्रतीक रूप में चित्रित किया है। संसार में जितना भी सौंदर्य व्याप्त है अथवा जो-जो वस्तुएँ जिस-जिस रूप से युक्त हैं, उसे मधुमालती से ही उन्होंने प्राप्त किया है:

इहै रूप परगत बहु रूपा।

इहै रूप बहु भाऊ अनूपा।

सोई रूप परगट में देखा

तुम माथे परगास ।

जीव का प्रतीक मनोहर :

मंझन ने मनोहर को साधक (जीव) के रूप में चित्रित किया है। सूफियों का मत है कि त्याग से ही साधक अपनी मंजिल तक पहुँचता है। जब तक उस की आसक्ति सांसारिक ऐश्वर्य से है तब तक वह साधना मार्ग पर चल ही नहीं सकता। सूफी साधना-पद्धति में साधक को 'सालिके-रूप' (आध्यात्मिक प्रेम पथ पर यात्री) कहा जाता है। मनोहर (साधक) भी मधुमालती (साध्य) को पाने के लिए घर-परिवार त्याग कर योगीवेश धारण करता है:

प्रेम पंथ जेई सुधि बुधि खोई।

दुहुं जग किछु समुझहि नहिं सोई।

वज्र कछौटा बांधि कै किय गोरख का वेस।

3. प्रेम मार्ग की कठिनाइयाँ :

सूफियों के विचार से साधन का प्रेममार्ग अत्यंत ही कठिन है। इस में साधक को अपना सब कुछ त्याग करना पड़ता है। आध्यात्मिक प्रेम में प्रेमी (साधक) और प्रिय (साध्य) का तादात्म्य बड़ी कठिनाई से होता है। इसमें साधक को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। 'मधुमालती' में साधक (मनोहर) अपने साध्य (मधुमालती) को प्राप्त करने के लिए अनेक बाधाओं का सामना करते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरंतर प्रयत्नशील रहता है।

प्रेम-व्यंजना की जितनी विशद व्याख्याता 'मधुमालती' में हुई है, उतनी संभवतः किसी सूफी ग्रंथ में नहीं हुई। उन्होंने इस प्रेत-तत्व को जन्म-जन्मांतर से संबंद्ध दिखाया है तथा प्रेम के द्वारा ही सूफी साधना के गूढ़ रहस्यों को प्रकट किया है। प्रेम ही ईश्वर है। प्रेम के अतिरिक्त इस जगत में कुछ भी नहीं है। उससे बड़ी कोई साधना नहीं है। वह मानव और ईश्वर को एक सूत्र में पिरोने वाला तत्त्व है। अतः मधुमालती में भारतीय प्रेम-दर्शन और सूफी प्रेम-व्यंजना का अद्‌भुत एवं अनुपम समन्वय है।

सूर-काव्य : सांस्कृतिक चेतना

सूरदास के संबंध में प्रायः कह दिया जाता है कि वे वात्सल्य का कोना-कोना झाँक आए हैं। यह कथन उन्हें सीमा में आबद्ध करना है। सूर ने न केवल वात्सल्य का अपितु सांसारिक कार्य-व्यापारों का भी कोना-कोना अपनी बंद आँखों से निहारा है और उसे अपनी अभिव्यक्ति प्रदान की है। सूर ब्रज के थे और ब्रज सूर का दोनों एक-दूसरे में अंतर्निहित हैं। दोनों को अलग कर उनका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। सूर की सांस्कृतिक चेतना ब्रज की सांस्कृतिक चेतना है और ब्रज की संस्कृति सूर-काव्य का आधार है। ब्रज की संस्कृति के रूप में भारतीय लोक जीवन की सफलतम व्याख्या सूर-काव्य में उपलब्ध है। श्रीकृष्ण का जन्म तो मथुरा में होता है पर उन्हें नगरीय संस्कृति रुचिकर नहीं, इसीलिए वे ग्राम की ओर प्रस्थान कर जाते हैं। जहाँ गौ हैं, गौ-पालक हैं, कालिन्दी का कूल है, मोर हैं, ग्राम्य वनस्पतियाँ हैं ग्राम्य-सुषमा है और ग्राम्य-जीवन है। ब्रज का कन्हैया (कान्हा, मनमोहन, गोपाल आदि) सूर के आराध्य हैं। नन्द गाँव, बरसाना और गोकुल सूर को आकर्षित करते हैं, मथुरा नहीं, क्योंकि वह तो 'काजर की कोठरी है।' इन्हीं गाँव की गलियों में गोपाल का बचपन व्यतीत होता है। इन्हीं ग्रामों की ऋतुओं के विभिन्न तीज-त्योहारों से गोपाल का हृदय प्रफुल्लित होता है और सूर की काव्य-चेतना इन्हीं में मुखरित होने लगती है।

डॉ. राजनाथ शर्मा लिखते हैं- "सूर ने ब्रज के लोक-जीवन और लोक संस्कृति के उन्मुक्त, स्वच्छंद और सरल रूप का बड़ा ही यथातथ्य और हृदयग्गाही चित्रण किया है। इसी को कुछ लोगों ने अंग्रेजी से शब्द उधार ले और उनका अनुवाद कर 'चारागाही संस्कृति' नाम दिया है। हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य में किसी अंचल-विशेष के लोक-जीवन को ऐसा व्यापक, विशद और यथार्थ चित्रण सूरकाव्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलता। विशेषयता भिन्नता केवल यही है कि सूर ने तुलसी के समान इस लोक-जीवन पर सामंतवादी आदर्शों का मुलम्मा चढ़ाने का प्रयास नहीं किया है। जो कुछ है, सारा अपने नितांत सहज, स्वाभाविक

और उन्मुक्त रूप में प्रस्तुत कर दिया है।"।

डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम' का मानना है कि- "संस्कृति एक व्यक्ति के शिक्षण, संस्कार और अभ्यास से प्रारंभ होती है और उसका अंत मनुष्य के विकसित व्यक्तित्व में प्रकाश तथा परिमार्जित अवस्था के रूप में दिखलाई देता है। परिमार्जित अथवा संस्कृत जीवन संम्पन्न मानव का अनुभव उसके अपने काम तो आता ही है, साथ ही वह मानव-समाज के लिए भी हितकारी होता है। इसी कारण संस्कृति सामाजिक रूप धारण कर लेती है और समाज में ही उसकी वास्तविक चरितार्थता सिद्ध भी होती है। संस्कृति जहाँ एक व्यक्ति के जीवन को अनुप्राणित और पुष्ट करती है, वहाँ सामूहिक रूप से समस्त समाज को संस्कृत करने में भी सहायक होती है।" इस उद्धरण के अनुसार संस्कृत का प्रस्फुटन और पूर्णता समाज में ही संभव है। समाज के अपने आंतरिक और बाह्य अथवा भौतिक पक्ष होते हैं। प्रथम का संबंध व्यक्ति के धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों से है, जबकि दूसरा पक्ष समाज के विभिन्न संस्कारों को चित्रित करता है। सूर की सांस्कृतिक चेतना इन दोनों पक्षों से पुष्ट है।

सूर की सांस्कृतिक चेतना के प्रथम पक्ष के निर्माण में महाप्रभु बल्लभाचार्य का एवं उनके अनुयायियों का विशेष योगदान है। यही कारण है कि लोक समुदाय का आकर्षण इस ओर रहा। महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमर्गीय भक्ति से सूरदास ने अपना धार्मिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक पक्ष पुष्ट किया। पुष्टिमार्ग में हरि-लीला का गायन ही प्रधान है। हरि-लीला में भाग लेना ही जीवनादर्श है। यही सेवा कार्य है, इसी से भगवत्कृपा की प्राप्ति होती है। यह सब सगुण भक्ति में ही संभव है। एक बात तो तय है कि यदि सूरदास अपनी प्रारंभिक रचनाओं की भाँति केवल दैन्य भाव के पद गाते रहते तो उनकी सांस्कृतिक चेतना संकीर्ण घेरे में बँधकर रह जाती, उसका लोक व्यापी विस्तार नहीं हो सकता था।

"सूर वर्णित हरि-लीला जहाँ लोक भाषा में संसार की व्यावहारिक बातों और कथाओं पर प्रकाश डालती है, वहाँ सहज भाषा के द्वारा आध्यात्मिक तथ्यों का भी निरूपण करती है।" सूरदास जी द्वारा प्रणीत ग्रंथों में 'सूर सारावली', 'साहित्य लहरी' और 'सूरसागर' ही प्रमुख हैं, परंतु ख्याति 'सूरसागर' की ही है। 'सूरसागर' में ही सूर की सांस्कृतिक चेतना के विविध पक्षों का विस्तार हुआ है। दैन्य के समस्त पद (विनय के पद) जो संख्या में 343 हैं, इसके प्रथम स्कंध में हैं। इन पदों में सूर ने ब्रह्म, जीव, जगत, माया और मोक्ष आदि के दार्शनिक पक्षों सहित स्वयं के उद्धार हेतु आत्म-भर्त्सना करते हुए ईश्वर से प्रार्थना की है :

इत-उत देखत जनम गयौ।

या झूठी माया कैं कारन, दुहुँ दृग अंघ भयो।

जनम कष्ट से मातु दुखित भई, अति दुख प्रान सह्यौ ।

वै त्रिभुवनपति बिसरि गये तोहिं सुमिरत क्यों न रह्यौ ।

श्री भागवत सुन्यौ नाहिं कबहूँ बीचहिं भटकि मरयौ ।

सूरदास कहै सब जग बूड़यों, जुग जुग भक्त तरयौ ।'

सूर के यश-सौरभ का प्रमुख कारण इनकी सांस्कृतिक चेतना का आध्यात्मिक पक्ष नहीं, अपितु सामाजिक पक्ष है। व्यक्ति समाज के विभिन्न कार्य-व्यापारों से सीधे-सीधे संबंधित होता है। काव्य में जब उसकी भावनाएँ अपनी पूर्ण संवेदनाओं सहित अवतरित होती हैं, तब व्यक्ति उनसे सम्मोहित होकर उन्हें आत्मसात कर लेता है। सूर ने समाज के विविध घटकों (परिवार, परिवार के विभिन्न संस्कार, रीति-रिवाज, व्रत-उत्सव एवं मान्यताएँ) का सुंदर, सूक्ष्म और मनोहारी चित्रांकन कर सामाजिक संस्कृति को पुष्ट किया है। भारतीय ग्रंथों में (गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्त्तन, विवाह, वाणप्रस्थ, संन्यास तथा अंत्येष्ठि) सोलह प्रमुख संस्कार बताये गये हैं। सूर-काव्य में इन संस्कारों का विशद एवं सूक्ष्म चित्रण है। डॉ. मुंशीराम शर्मा का कथन है कि- 'संस्कार ही व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं और एक-एक व्यक्तित्व की निर्मिति समग्र समाज को संस्कृत बना देती है। अतः संस्कारों का संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

परिवार में दम्पति के जीवन में सबसे बड़ा सुख होता है-पुत्र प्राप्ति। क्योंकि पुत्र प्राप्ति से ही वंश-बेल बढ़ती है और 'पुत्रवान' का मान बढ़ता है। पुत्र-जन्म के अवसर पर विभिन्न रूपों के द्वारा खुशियों की अभिव्यक्ति होती है। यशोदा की नींद खुली तो पुत्र का मुख देखकर वे परम पुलकित हो उठीं। हर्षित होकर उन्होंने नंद को बुलवाया। नंद ने आकर पुत्र का मुख देखा-इससे उन्हें जितना सुख हुआ, उसके परिमाण की सूरदास भी कल्पना नहीं कर सके : **जागी महरि, पुत्र-मुख देख्यौ, पुलकि अंग उर मैं न समाइ।**

गदगद कंठ बोल नहिं आवै, हरषवंत हवै नंद बुलाइ।

आबहु कंत देव परसन भए, पुत्र भयौ मुख देखौ धाइ।

दौरि नंद गए, सुत-मुख दैख्यौ, सो सुख मोपै बरनि न जाइ ।'

नाल काटने वाली दाई नाल नहीं काटने दे रही। वह इस बात पर अड़ी हुई है कि यशोदा के गले में पड़ा हुआ मणियुक्त हार नेग में लेने पर ही नाल छेदूँगी :

जसुदा, नार न छेदन दैहों।

मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ, वहै आजु हौं लैहों।"

सूरदस जी केवल पुत्र जन्म और नाल-छेदन का वर्णन कर ही संतुष्ट नहीं होते। पुत्र जन्म से नन्द, यशोदा, गोकुल के जन सामान्य ही नहीं, ज्योतिषी और गुणीजन भी आनंदित है। बाजे बज रहे हैं। वैधाइयों गाई जा रही हैं। नये-नये वस्त्रभूषण पहने काजल-सुरमा लगाये, वेणियाँ गूथे, माँग में सिंदूर भरे सखियाँ मंगल गीत गाती चली आ रही हैं। इस आनन्दोत्सव का विशद वर्णन सूर ने अपने काव्य में किया है।

पुत्र जन्मोपरांत छठी का संस्कार, नामकरण अन्नाप्राशन और कर्ण छेदन जैसे संस्कारों का चित्रण भी सूर-काव्य में है:

काजर-रोरी आनहू (मिलि), करौ छठी कौ चार।

ऐपन की सी पुतरी (सब), सखियानि कियौ सिंगार।"

आदि सनातन परब्रह्म प्रभु, घट-घट अंतरजामीं।

सो तुम्हारें अवतरे आनि कै, सूरदास के स्वामी।।"

कान्ह कुँवर की करहु पासनी, कछु दिन घटि षट् मास गए।

नंद महर यह सुनि पुलकित जिय, हरि अनप्रासन जोग भए।।"

कान्ह कुँमर कौर कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।

रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौ घुरकी ।।

इस प्रकार व्यक्ति के जीवन के विविध संस्कारों के चित्रण में सूर ने सूक्ष्म काव्य-दृष्टि का परिचय दिया है। केवल दर्शन, अध्यात्म और समाज ही नहीं, पूजा, उपासना, व्रत, साज-श्रृंगारादि से आगे जाकर रास और विभिन्न खेल-कूद का चित्रण सूर-काव्य में किया गया है। सूर संगीतज्ञ थे। वे श्रीनाथ जी के कीर्तनियाँ थे। उनके समस्त गेय पद (बिलाबल, घनाश्री, आसावरी, जेतश्री, रामकली, सारंग, मलार, नट नारायण आदि सैकड़ों राग-रागनियों में) भारतीय संगीत शास्त्र के अनुसार निबद्ध हैं।

सूरदास की सांस्कृतिक चेतना लोक-जीवन से सम्पृक्त है, ग्राम्य-जीवन ही इनका अभीष्ट है। श्रीकृष्ण शैशवास्था से ही गायों से प्यार करने लगते हैं। उन्हें चराने के लिए वन में जाते हैं। पशुपालन भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। पशु-संवर्द्धन से ही राष्ट्र सम्पन्न बन सकता है। वनों के संवर्द्धन और सुरक्षा से पर्यावरण की रक्षा हो सकती है। श्रीकृष्ण की गोचारण लीला, गोवर्द्धन लीला और नाग-नाथ लीलाओं के द्वारा सूरदास जी मानो यही संदेश देना चाह रहे हैं। नाग-नाथ लीला तो स्पष्ट रूप से जल को प्रदूषित करने वाले विषैले तत्त्वों को नष्ट

करने का प्रतीक है। सूर की सांस्कृतिक चेतना किसी नियम विशेष में आबद्ध नहीं है।

राजनाथ शर्मा के शब्दों में-'किसी सिद्धांत-विशेष, अथवा विचार धारा विशेष से बंधकर काव्य का सच्चा आनन्द नहीं पाया जा सकता। दर्शन, अध्यात्म, भक्ति-प्रकार, लोक-कल्याण, उपयोगितावाद आदि की संकीर्ण टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में घूमते हुए सूर-काव्य को पढ़ते रहने से उस अमर गायक कवि की मूल संवेदना को पकड़ पाना सर्वथा दुष्कर कार्य है। उसका आनन्द तो तभी लिया जा सकता है, जब हम सूर की ऊँगली पकड़कर उनके साथ-साथ, उनके आराध्य कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का अपने मानस-नेत्रों द्वारा साक्षात्कार करें। सूर-काव्य सनातन सौंदर्य के लिए सनातन अतृप्ति का काव्य है।'

हमारे देश की आत्मा ग्रामों में बसती है। ग्राम्य संस्कृति ही वास्तविक भारतीय संस्कृति है। इसी सांस्कृतिक-चेतना को सूर ने अपने काव्य के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। सूर की चेतना संस्कृति के न तो भक्ति पक्ष को लेकर चली है, न केवल सामाजिक पक्ष को लेकर चली है और न केवल ग्राम्य जीवन को लेकर चली है। सूर-काव्य में संस्कृति की समग्रता है, व्यापकता है और मानव-जीवन की अर्थवत्ता का स्वर है।

संदर्भ :

1. विशिष्ट साहित्यिक निबंध राजनाथ शर्मा, पृ. 271
2. सूर-संचयन: डॉ. मुंशीराम शर्मा, पृ. 44
3. सूरदास : सं. हरवंशलाल शर्मा, पृ. 214
4. सूरसागर (पहला खंड) सं. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, दशम स्कंध, पद 15
5. भारतीय संस्कृति : शिवदत्त ज्ञानी, पृ. 95
6. सूर-संचयन: डॉ. मुंशीराम शर्मा, पृ. 49
7. सूरसागर (पहला खंड) सं. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, दशम स्कंध, पद 13
8. वही, पद 15
9. वही, पद 24-40
10. वही, पद 40
11. वही, पद 86
12. वही, पद 88
13. वही, पद 180
14. विशिष्ट साहित्यिक निबंध राजनाथ शर्मा, पृ. 272

रामचरितमानस में सुख की अवधारणा

'रामचरितमानस' विश्व का अनन्य ग्रंथ है। ऐसा माना जाता है कि विश्व में जो है, वह सब रामचरित मानस में है, जो रामचरिमानस में नहीं है, वह विश्व में कहीं नहीं है। मानस में 'सुख' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख बालकाण्ड में हुआ है। तुलसी 'मानस' की रचना का कारण दर्शाते हुए कहते हैं :

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा,

भाषानिबंधमतिमंजुल मातनोति ।'

अपने सुख के लिए तुलसी ने मानस की रचना की। यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'स्वान्तः सुखाय' में स्वः की भावना होने के कारण प्राप्त यह सुख क्या सात्त्विक सुख की श्रेणी से बाहर नहीं है? पर यह विशुद्ध सात्विक सुख है। तुलसी का स्वानतः सुख राम कथा से उद्भूत है, भक्ति से निःसृत है। राम की भक्ति से उत्पन्न सुख की अनुभूति वही कर सकता है, जिसने इस अनविर्चनीय एवं अकथनीय भक्ति रस में अवगाहन किया हो। अनुभव सर्वथा निजी होता है। तुलसी का अनुभव भी निजी था, पर उसमें विश्व-कल्याण की भावना निहित है। राम कथा का गान कर तुलसी का स्वान्तः सुखाय सार्वभौम हो गया। सुख अध्यात्मक रूप में भी है और भौतिक रूप में भी, पर सुख की श्रेष्ठता का मूलाधार तो भगवद् भक्ति ही है। ईश्वर से विमुख होकर जीव सुख प्राप्त कर ही नहीं सकता :

फूलहिं नभ बरू बहु विधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ।।

अंधकारू बरू रबिहि नसावै। राम विमुख न जीव सुख पावै ।।

इतना ही नहीं, ईश्वर की निंदा करने वाला भी सुखी नहीं हो सकता :

भव कि परहिं परमात्मा बिंदक। सुखी कि होहिं कबहुँ हरि निंदक ।।

ईश्वर से विमुख होना और ईश्वर की निंदा करना दोनों ही प्रथम द्रष्ट्या समान प्रतीत होते हैं, पर इनमें सूक्ष्म अंतर है। ईश्वर की निंदा करने वाला नास्तिक होता है, उसकी निष्ठा ईश्वरीय सत्ता में नहीं होती। ऐसा व्यक्ति भौतिक वादी होता है। पर ईश्वर से विमुख जीव ईश्वर का निंदक नहीं होता, अपितु माया के वशीभूत होकर वह अपने मूल रूप को विस्मृत कर देता है। राम (ईश्वर) से विमुख होकर जीव विश्राम पाप्त नहीं कर सकता। विश्राम से तात्पर्य है-सुख ।

रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में पार्वती शिव से सहज प्रश्न करती हैं कि संसार में सबसे बड़ा दुख कौन-सा है और सबसे बड़ा सुख कौन-सा है :

बड़ दुख कवन कवन सुख भारी। सोउ संक्षेपहिं कहहु बिचारी।।'

उत्तर में शिव गड़ी ही विचित्र बात कहते हैं :

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।

संत मिलन सम सुख जग नाहीं।।

सत्संग में सुख :

ईश्वर की भक्ति में ही सुख नहीं है, अपितु ईश्वर प्राप्ति के उपादानों में भी सुख निहित है। इन उपादानों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है-सत्संग। यह सत्संग संतों के सानिध्य के प्रसाद स्वरूप प्राप्त होता है। संत गण ही जीवन का अर्थ बताते हैं, उससे साक्षात्कार कराते हैं। स्वर्ग-अपवर्ग का सम्पूर्ण सुख भी एक पल के सत्संग के सुख से समता नहीं कर सकता :

तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिज तुला एक अंग।

तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ।।

दरिद्रता से बढ़कर दुख नहीं है और संत मिलन से बड़ा कोई सुख नहीं है। यहाँ विभिन्न विरोधाभास है। दरिद्रता का संबंध अभाव से है। (भौतिक संसाधनों का अभाव) और संत का संबंध है-अध्यात्म एवं जीवन-मूल्यों से। दुख और सुख दोनों विरुद्धार्थी प्रकृति के हैं। यदि दरिद्रता महान दुख है तो इसका विलोम संपन्नता को सबसे बड़ा सुख माना जाना चाहिए पर माना गया है-संत मिलन को? तथ्य विरोधाभासी होते हुए भी विरोधाभासी हैं नहीं। जीवन न तो केवल अध्यात्म के सहारे चलाता है और न भौतिक संसाधनों के द्वारा। दोनों में समन्वय आवश्यक है। समन्वय का यह कार्य संत ही कर सकते हैं। वही एक चिकित्सक की भाँति यह निश्चित कर सकता है कि हमें भौतिक समृद्धि की कितनी मात्रा ग्रहण करनी चाहिए, जिससे जीवन-रूपी स्वास्थ्य न बिगड़ पाये।

वर्णाश्रम सुख :

तुलसी वर्णाश्रम धर्म को मानते थे। उनकी मान्यता तो यहाँ तक थी कि वर्णाश्रम धर्म में रत लोग सुख प्राप्त कर सकते हैं :

बरनाश्रम निज-निज घरम निरत वेद पथ लोग।

चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।'

वाणी सुख : तुलसी के पात्र अपनी मधुर वाणी के द्वारा रस-वर्षण करते हैं

और इस रख में अपार सुख है। श्रीराम अपने सहयोगियों को साभार विदा करते हैं। सब भाव-विह्वल हैं। श्रीराम निषादराज से कहते हैं कि 'हे सखा! तुम मुझे भरत के समान प्रिय हो। तुम सदा अवध में आते-जाते रहना।' यह एक सहज और औपचारिक कथन मात्र प्रतीत होता है पर, इसे जिस ढंग से श्रीराम ने कहा, वह इतना विशिष्ट है कि वचनों को सुनकर ही निषादराज को साधारण सुख नहीं, 'अपार-सुख' प्राप्त होता है। निषादराज के नेत्र प्रेम से सजल हो जाते हैं :

वचन सुनत उपजा सुख भारी। परेउ चरन भरि लोचन बारी ।।

तुलसी ने मानस में सुख का जो सर्वोतम चित्र अंकित किया है वह है-सुख का उदात्तीकरण। चरित्र से सुख का अनन्य संबंध तुलसी ने स्थापित किया है। जहाँ राम जैसा उदार और पावन चरित्र है, वहाँ सुख तो क्या, सुख का अक्षय भंडार होता है :

रघुपति चरित देखि पुरबासी। पुनि-पुनि कहहिं धन्य सुखरासी ।।

प्रेम में सुख :

परस्पर प्रेम जहाँ है, वहाँ सहज सुख है। श्रीराम अपने भाइयों से अपार प्रेम करते हैं। उनके साथ बैठकर भोजन करते हैं। यह देखकर माताओं का हृदय अपार सुख की अनुभूति करता है :

अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं।।

पत्नी तो अपना संपूर्ण सुख पति के सुख में ही विलय कर देती है। वह अपने प्रत्येक सुख का अस्तित्व मिटा देती है और पति के सुख को ही अपना सुख मानती है। जिस उपाय से पति को (श्रीराम) सुख मिलता है, पत्नी (सीता) वही करती है :

जेहि विधि कृपा सिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ।।"

सेवक का सुख :

सेवक अथवा भक्त अपना सुख अपने स्वामी अथवा अपने भगवान की सेवा तथा उनके गुणगान में निहित समझता है। हनुमान अपने प्रभु का दिन-रात गुणगान करते हैं। इससे उन्हें तो सुख प्राप्त होता ही है, तीनों भाइयों को भी अपने प्रभु के पावन गुण श्रवण कर अत्यंत सुख प्राप्त होता है :

सुनत विमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि-बहुरि करि विनय कहावहिं ।। 12

समन्वय में सुख :

तुलसी समन्वय के कवि हैं। उनकी मान्यता है कि समन्वय से ही सुख प्राप्त

हो सकता है। राम का स्मरण कर शिव को यदि 'परम-सुख' प्राप्त होता है तो राम की भी स्पष्ट मान्यता है कि जो शिव से द्रोह करता है, वह सुख प्राप्त नहीं कर सकता :

चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही।।

परम सुख :

रामचरित मानस का समापन करते हुए तुलसी अंततः इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि निर्गुण पंथी हो, चाहे सगुणोपासक, परम सुखी वही है-जो भगवद् भक्ति करता है। निष्काम भक्ति तो सर्वश्रेष्ठ है ही, सकाम भक्ति करने वाला भक्त भी यदि प्रभु के यश को सुनता है, गाता है, तो उसे भी नाना प्रकार की संपत्तियों का सुख प्राप्त होता है और अंत में उसे रघुनाथ जी का धाम भी प्राप्त होता है:

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपत्ति नाना विधि पावहिं ।।

सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति पुर जाहीं।।

निष्कर्षतः नित्य सुख केवल- 'सब तज-हरि भज' से ही प्राप्त किया जा सकता है किंतु जन्य सुख मानव-सेवा, समाज-सेवा, प्राणी-सेवा, दया, धर्म, करुणा, ममता, स्नेह, परोपकार आदि मानव-मूल्यों के धारण से प्राप्त होता है-यही तुलसी का मंतव्य है, यही रामचरित मानस में सुख की अवधारणा है।

संदर्भ :

1. रामचरित मानस : तुलसी दास, 1/7
2. वही, 7/12/8-9
3. वही, 7/111/3
4. वही, 7/120/2
5. वही, 7/120/7
6. वही, 5/4
7. वही, 7/20
8. वही, 7/19/2
9. वही, 7/19/6
10. वही, 7/25/2
11. वही, 7/23/4
12. वही, 7/25/3
13. वही, 4/16/3
14. वही, 7/14/2

मध्यकालीन काव्य में वीर रस

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विक्रम संवत् 1375 से 1900 तक के समय को हिन्दी साहित्य के काल विभाजन में मध्यकाल की संज्ञा प्रदान की है। ईसवी सन् में यह समय 1318 से 1843 तक ठहरता है। लगभग साढ़े पाँच सौ वर्षों से अधिक समय में विस्तृत मध्यकाल का एक सिरा आदिकाल अथवा वीरगाथाकाल के अंतिम दिनों को स्पर्श करता है तो दूसरा छोर आधुनिक काल की प्रारंभिक सीमा पर जाकर समाप्त होता है। इस मध्यकाल के भी दो भाग आचार्य शुक्ल ने किये हैं-पूर्व मध्यकाल, जिसे भक्तिकाल कहा गया है, इसकी समय-सीमा का निर्धारण उन्होंने संवत् 1375 से 1700 (सन् 1318 से 1643) किया है। संवत् 1700 से 1900 (सन् 1643 से 1843) तक के काल को रीतिकाल कहा गया है, जो उत्तर मध्यकाल है और, जिसे अनेक विद्वानों ने कला काल और अलंकृत काल भी कहा है; पर यह समय अनेक न्यूनताओं के होते हुए भी रीतिकाल के नाम से ही विख्यात है। हिन्दी साहित्य का अध्येता इस तथ्य से भलीभांति परिचित है कि पूर्व मध्यकाल या भक्तिकाल में भक्ति रस का प्राधान्य था और इसका उत्तरवर्ती काल श्रृंगार रस या रसराज की प्रतिष्ठा का काल था। भक्तिकाल में वीर रस की तलाश करना सचमुच आश्चर्य है, परन्तु नवीनतम अन्वेषण यह सिद्ध करते हैं कि समूचे मध्यकाल में वीर रस की भी पर्याप्त स्थापना हुई और कवियों ने उसे अनदेखा नहीं किया।

वीर रस का स्वरूप :

रसों की संख्या जबसे निर्धारित हुई है, तब से नौ से लेकर ग्यारह तक के मध् य स्थिर रही है। हिन्दी साहित्य का सामान्य पाठक तो मूल रसों की संख्या को नवरस अथवा दस रस तक ही सीमित मानता है। हिन्दी काव्यशास्त्र का मूलाधार संस्कृत काव्यशास्त्र है और संस्कृत काव्यशास्त्र का भी मूलाधार भरत मुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' है। इस ग्रंथ में प्रथम बार भारतीय काव्यशास्त्र के समग्र स्वरूप को व्याख्यायित करने का सफल प्रयास किया गया है। इस सफल प्रयास की नींव पर ही भारतीय काव्यशास्त्र

के भवन का निर्माण हुआ है। आचार्य भरत ने मूल रसों की संख्या चार मानी है : शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स । नाट्यशास्त्र के प्रणेता इन्हीं चार मूल रसों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत एवं भयानक रसों का विस्तार मानते हैं।' कालांतर में इन रसों की संख्या में और विस्तार हुआ तथा इस रस-वंश में शांत और वात्सल्य नामक सदस्य भी जुड़ गये। 'उज्ज्वल नीलमणि' के प्रणेता रूप गोस्वामी ने ग्यारहवें रस-माध् गुर्य अथवा भक्ति रस की स्थापना कर रसों की संख्या को ग्यारह तक पहुँचाया। वीर रस की गणना मूल रसों में होने के कारण इसका महत्त्व असंदिग्ध है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में रसों के विभिन्न भेदों का उल्लेख किया है। इन विभेदों में शृंगार के संयोग अथवा संभोग तथा वियोग अथवा विप्रलंभ तो हैं ही, हास्य रस के भी स्मित, विहसित आदि छह भेद किय हैं जो उत्तम, मध्यम और अधम व्यक्तियों द्वारा भिन्न प्रकार से प्रयुक्त होते हैं। भेदों के इसी क्रम में उन्होंने वीर रस के तीन भेदों-दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर को स्वीकार किया है। चौदहवीं शताब्दी के संस्कृत-काव्यशास्त्री पंडित विश्वनाथ ने वीर रस के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त चौथे भेद-दयावीर की मौलिक उद्भावना की। आगे चलकर वीर रस के यही चारों भेद काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार किये। इसके पूर्व महाभारत में शूरवीरों के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। "शूराः बहुविधाः प्रोक्ताः तेषां अर्थास्तु मे श्रृणु" कहकर भीष्म ने यज्ञ-शूर, क्षमा-शूर, बुद्धि-शूर, गुरु सुश्रुषा-शूर, अतिथि पूजन-शूर आदि अनेक शूरों के उदाहरण दिये हैं।

शास्त्रीय शब्दावली में वीर रस के देवता सुरपति हैं। इस रस का वर्ण कंचन (स्वर्ण वर्ण) है। जिस पर विजेता विजयी होने की आकांक्षा करता है, वह आलंबन है तथा उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है। काव्याचार्यों ने वीर रस को गौड़ी रीति के अंतर्गत् परिगणित किया है। इस रीति में कटु वर्णों की प्रधानता होती है तथा आठ से लेकर नौ पदों तक के दीर्घ समास होते हैं। वीर रस की वृत्ति परुषा है जो ओज गुण प्रधान है। इस वृत्ति रेफ, हकार, श, ष, ट वर्ग तथा अन्य घोष एवं कठोर वर्णों से युक्त होती है। गौड़ी रीति को ही मम्मट ने परुषा कहा है।

पूर्व मध्यकाल :

पूर्व मध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल का प्रमुख रस शांत था, जो वीर का विरोध ती रस है। इस काल के प्रतिनिधि कवियों-कबीर, सूर, तुलसी, रसखान, मीरा, नन्ददास, चतुर्भुजदास आदि ने अपने काव्य-व्यक्तित्व को शांत रस के विरोधी रसों से दूर ही रखा। तुलसी और सूर ने अवश्य ही अपने चरितनायकों की वीरत्व छवि प्रदर्शित करने के लिए यत्र-तत्र शौर्य वर्णन किया। पर यह शौर्य वर्णन प्रधान न

होकर अप्रधान है। सूफी कवियों ने अपने प्रेम कथानकों में वीर रस को पर्याप्त स्थान प्रदान किया है। जायसी के 'पद्मावत' का 'रत्नसेन', मंझन की 'मधुमालती' के मनोहर और अन्य सूफी कवियों के काव्य-नायकों में यह प्रवृत्ति प्राप्त हालती।

पद्मावत में सेना और युद्ध की तैयारी का वर्णन, चढ़ाई की हलचल, घमासान बुद्ध का वर्णन, अस्त्र-शस्त्रों का प्रक्षेपण व प्रहार आदि प्रसंगों में वीर रस के बुद्ध-वीर विभेद का सुंदर परिपाक हुआ है। इस ग्रंथ के 'राजा गढ़ का खण्ड', 'बादशाह चढ़ाई खण्ड', 'राजा-बादशाह युद्ध खण्ड', 'गोरा-बादल युद्ध खण्ड' आदि में बीर रस का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। अपनी माता के प्रति बादल का यह कथन 'उत्साह' स्थायी भाव को पुष्ट करता है। बादल कहता है कि-'हे माता! तू मुझे निपट बालक मत जान। मैं युद्ध में लड़ने वाला शेर हूँ। हाथियों के समूह की बात सुनकर मेरा जी और अधिक तपने लगा है। शेर की जाति छिपकर नहीं रह सकती। मेरी सिंह जैसी दहाड़ को तभी वास्तविक गर्जना समझना, जब कि मैं शाह के सामने अकेला भिड़ जाऊँ। जैसे क्रोध करके अंगद ने पैर जमा दिया था, उसी प्रकार मैं भी छत्तीस लाख अलाउद्दीन की सेना को रोक दूँगा :

माता न जानसि बालक आंदी।

हौं बादिला सिंघ रनवादी ।।

सुनि गज जूह अधिक जिंउ तपा।

सिंघ की जाति रहै नहिं छपा ।।

तब गाजन गलगाज सिंघेला।

सौंह सांहि सौं जुरौं अकेला ।।

अंगद कोपि पाँव जस राखा।

टेकौं कटक छत्तीसौं लाखा ।।

को मोहि सौहे होइ मैमंता।

फारौं कुंभ उखारौं दंता ।।

जादौं स्वाम सँकरे जस हारा।

बल हरि जस जुरजोधन मारा।।

हनिवँत सरिस जंघ बर जोरौं।

धँसी समुंद्र स्वाम बँदि छोरों ।।

जो तुम्ह मात जसौवै कान्ह न जानहु बार।

जेहैं राजा बलि बाँधा छोरौं पैठि पतार।। 'मधुमालती' का नायक मनोहर, 'मधुमालती' की खोज में समुद्री तूफान से टकराता हुआ जब वन में पहुँचता है, तब वहाँ राक्षस द्वारा बंदी बनाई गई पेमा से

उसकी भेंट होती है। यहाँ राक्षस के रूप-वर्णन में भयानक रस की तो उद्भावना की ही गयी है, राक्षस के साथ मनोहर के युद्ध वर्णन में वीर रस का श्रेष्ठ परिपाक हुआ है। तुलसी की दोहावली, गीतावली और रामचरितमानस के लंकाकाण्ड सहित अनेक स्थलों पर भी वीर रस की अभिव्यंजना हुई है :

ढाहे महीधर शिखर कोटिन्ह बिबिध बिध गोला चले।

घहरात जिमि पविपात गर्जत जनु प्रलय के बादले ।।

मर्कट बिकट भट जुटत कटत न लटत तन जर्जर भये।

गहि सैल तेहि गढ़ पर चलावहिं जहँ सो तहँ निसिचर हये ।।

परन्तु यह वीर-वर्णन प्रसंगवश हुआ है, स्वतंत्र रूप से वीरगाथाकाल के वीर काव्यों की भाति इसका वर्णन नहीं हुआ है। सच तो यह है कि भक्तिकाल के भक्त कवियों का ध्येय वीर काव्य सृजन था ही नहीं।

उत्तरमध्यकाल :

उत्तर-मध्यकाल तक आते-आते कविता का स्वरूप परिवर्तित हो गया था। भक्ति का प्रवाह रीति की ओर मुड़ गया था। अब कविता-कामिनी गेरुआ और श्वेत-सादे वस्त्रों को त्यागकर, कुटिया छोड़कर रेशमी परिधानों से आच्छादित होकर राजदरबारों की शोभा बढ़ाने लगी। देश में प्रायः शांति थी। तलवारों की झनझनाहटें लगभग शांत थीं। "अकबर के पश्चात् जहाँगीर ने राज के संबंध में कोई योगदान नहीं दिया। हाँ, उसकी सुरा और सुन्दरी के प्रति अदम्य लोलुपता और असंतुलित लालसा उत्तराधिकारियों को विरासत में अवश्य मिली। शाहजहाँ में एक ओर तो धार्मिक सहिष्णुता थी और दूसरी ओर उसमें सांस्कृतिक और कलागत उदारता। यह समय प्रायः सुख-शांति तथा समृद्धि का काल था।""

परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो मानते हैं कि इस काल में वीर रस भी लिखा गया- "वास्तव में श्रृंगार और वीर-इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही।" उत्तर-मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल में वीर रस में काव्य सृजन हुआ, परन्तु वह श्रृंगार की अपेक्षा कम हुआ ऐसा शुक्ल जी का मानना है।

शुक्ल जी ने रीतिकाल के जिन कवियों का परिचय 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में किया है, उनमें प्रथम प्रकरण में चिंतामणि त्रिपाठी से लेकर रसिक गोविन्द तक के 57 कवि और दूसरे प्रकरण 'रीतिकाल में अन्य कवि' में बनवारी से लेकर द्विजदेव तक के 46 कवि समाहित हैं। इन 103 कवियों में से मात्र भूषण कवि ही वीर रस के कवि के रूप में उपस्थित होते हैं। उल्लिखित कवियों में से कुछ ने इक्का-दुक्का ग्रंथ वीर रस के लिखे। इनमें से श्रीधर या मुरलीधर कृत 'जंगनामा', लाल कवि

कृत 'छत्रप्रकाश"", जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' ही प्रमुख हैं, जिनका मूल रस वीर है। अन्य कवियों ने भी वीर रस में अपनी लेखनी को डुबोया अवश्य; परन्तु वह आश्रयदाताओं की प्रशंसात्मक पृष्ठभूमि अथवा काव्यांग-निरूपण के लक्षण-उदाहरण तक ही सीमित रहे। "आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीर रस की फुटकल कविताएँ भी बराबर बनती रहीं, जिनमें युद्धवीरता और दानवीरता दोनों की बड़ी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भरी रहती थी। ऐसी कविताएँ थोड़ी बहुत तो रस ग्रंथों के आदि में मिलती हैं, कुछ अलंकार ग्रंथों के उदाहरण रूप जैसे, शिवराजभूषण और कुछ अलग पुस्तकाकार, जैसे- 'शिवाबावनी', 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' इत्यादि ।12

आचार्य शुक्ल के समय तक जो ग्रंथ प्रकाश में आ चुके थे, उन्हीं के आधार पर उन्होंने रीतिकाल में वीर रस को अप्रधान कहा था। आज ऐसे अनेक ग्रंथ खोज में प्राप्त हुए हैं जिनसे पता चलता है कि रीतिकाल में वीर रस की धारा सतत प्रवहमान थी। डॉ. श्यामबिहारी श्रीवास्तव ने अपने शोध-प्रबंध- 'बुदेलखंड के रासोकाव्य' (जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, सन् 1978) में संवत् 1764 से संवत् 1900 तक निम्नलिखित रासो ग्रंथों की सूची दी है। ये सभी वीर काव्य हैं:

क्र.	ग्रंथ का नाम	लेखक	रचनाकाल
1.	दलपतिराव रासो	जोगीदास भाण्डेरी	सं. 1764
2.	शत्रुजीत रासो	किशुनेश	सं. 1858
3.	शत्रुजीत रासो	साहिब राय	सं. 1858
4.	पारीछत रासो	श्रीधर	सं. 1873
5.	बाघाट रासो	प्रधान आनंदसिंह कुड़रा	सं. 1873
6.	भगवन्तसिंह रासो	प्रधान बाजूराय	सं. 1874
7.	बाघाट कौ समय	प्रधान बाजूराय	सं. 1876

इतना ही नहीं, उत्तर-मध्यकाल की निर्धारित समय सीमा संवत् 1900 के पश्चात् तक भी वीर काव्यों का सृजन होता रहा। संवत् 1926 में प्रधान कल्याणसिंह कुड़रा द्वारा रचित 'झांसी कौ रासो तथा कलियानसिंह कुड़ा कृत 'लक्ष्मीबाई रासौ"5 (रचनाकाल संवत् 1914) इनमें प्रमुख तथा उल्लेखनीय हैं।

मध्यप्रदेश के ही शिवपुरी जिला मुख्यालय पर स्वतंत्रता संग्राम सेनानी स्व. रामसिंह वशिष्ठ के वंशजों के पास जदुनाथ कवि द्वारा प्रणीत दो विशाल काव्य ग्रंथ- 'खाण्डेराव रासो' एवं 'जंगजस' हैं। इन ग्रंथों का रचनाकाल संवत् 1748 है। ये दोनों ग्रंथ अब तक अप्रकाशित हैं। 'खाण्डेराव रासो' से वीर रस का एक उदाहरण दृष्टव्य है : **तेरे धाक आगै नर धीर न धरत कौउ,**

तेरे धाक आगै रिपु तजि गये भौन हैं।

तेरे धाक आगै वंक छांड़ि कै अटक गयै,

तेरी संक मानि सब साधि रहे मौन हैं।

विन्द्रावन जू के नन्द रइसा राकू खांडेराई,

और अँधियारी नू सरदवारी जौन्ह हैं।

उत्तर लौं दक्खिन लौं पूरब लौं पच्छिम लौं,

खांडेराई तो सौं पग माडे रन कौन है।

एक और वीर काव्य करहिया रासो है जिसका प्रणयन गुलाब कवि (गुलाब चतुर्वेदी) ने संवत् 1768 में किया था। यह ग्रंथ संवत् 1986 में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

समूचे मध्यकाल में मात्र भक्ति काव्य और रीति काव्य का ही प्रणयन नहीं हुआ। इस काल में जितने भक्ति-नीति-वैराग्य संबंधी ग्रंथ तथा श्रृंगार और लक्षण ग्रंथ लिखे गये, वीर काव्य भी कम नहीं लिखे गये। ये हस्तलिखित ग्रंथ आज भी देश के अनेक स्थलों पर उपेक्षित पड़े हुए हैं। इनके मूल्यांकन की आज महती आवश्यकता है। लुप्त ग्रंथों की खोज यह सिद्ध करेगी कि मध्यकाल में वीर रस उपेक्षित नहीं रहा है।

संदर्भ :

1. नाट्यशास्त्र: आचार्य भरत, 6/39
2. वही, 6/40
3. महाभारत, 22-27
4. पद्मावत: जायसी, पृ. 117
5. मधुमालती मंझन, पृ. 79
6. रामचरितमानस: तुलसीदास, पृ. 139
7. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 328
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 233
9. वही, पृ. 316
10. वही, पृ. 317
11. वही, पृ. 333
12. वही, पृ. 309
13. दतिया : उद्भव और विकास सं. के.बी.एल. पाण्डेय, पृ. 168
14. वही, पृ. 168
15. वही, पृ. 183
16. बुदेली बसंत : सं. डॉ. बहादुरसिंह परमार, पृ. 68

द्विवेदीयुगीन काव्य : प्रकृति एवं प्रवृत्ति

काल-परिवर्तन के साथ समाज करवट लेता है और समाज के करवट लेने से हुई उथल-पुथल का लेखा-जोखा साहित्य रखता है। साहित्य में वह सब प्रतिबिंबित होता है, जो समाज में घटता है। इसीलिए आचार्य प्रवर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा है। साहित्य की अन्यान्य विधाओं में काव्य सर्वाधिक सशक्त और लोकप्रिय विधा है। प्रत्येक युग का प्रभाव काव्य पर पड़ता है और युगीन प्रभावों को ग्रहण कर कविता का अंतर्बाह्य परिवर्तित होता है। द्विवेदीयुगीन काव्य भी इससे वंचित नहीं है। युगीन काव्य के अध्ययन और विश्लेषण के मात्र दो ही बिंदु होते हैं उसकी प्रकृति और उसकी प्रवृत्ति।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन करते हुए आधुनिक काल का प्रारंभ संवत् 1900 से माना है और उसकी सीमा रेखा संवत् 1984 तक निर्धारित की है। इतना ही नहीं, गद्य की प्रधानता को दृष्टिगत रखते हुए इस काल खण्ड को इन्होंने गद्यकाल के नाम से अभिहित किया है।' इसके साथ ही आधुनिक काल में संवत् 1900 के अंतर्गत प्रकरण 3 काव्य खण्ड : नई धारा के द्वितीय उत्थान का समय उन्होंने संवत् 1950 से 1975 तक किया है। इसी 25 वर्षीय काल खण्ड में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का समय समाहित है।

संवत् 1900 से 25-25 वर्षों का काल-विभाजन करते हुए आचार्य शुक्ल ने द्विवेदीयुगीन काव्य धारा के पूर्व का काल निर्धारण संवत् 1925 से 1950 तक किया है, जो हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग है। इसके भी पूर्व, अर्थात् संवत् 1900 से शुक्ल जी ने पुरानी काव्य-धारा को स्थान दिया है। तात्पर्य यह है कि द्विवेदीयुगीन काव्य के पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र काव्य को नवोन्मेष प्रदान कर चुके थे। इस काल के पूर्व प्रायः दो सौ वर्षों से प्रवाहित होती आ रही रीतिकालीन काव्य-जलधारा शुष्क होती जा रही थी, या यों कहें कि सूख चुकी थी परंतु संवत् 1900 के आगे भी इसकी आर्द्रता का आभास होता रहा। 'कवि कल्पद्रुम'

(रामदास, संवत् 1901), 'रसिकविनोद' (चन्द्रशेखर, संवत् 1903), 'कमला नंद कल्पतरु' (लखिराम, संवत् 1940), 'जसवंत जसोभूषण' (मुरारिदान, संवत् 1950), 'काव्य-प्रभाकर' (जगन्नाथ प्रसाद भानु, संवत् 1967), 'काव्य-कल्पद्रुम' (कन्हैयालाल पोद्दार, संवत् 1983) प्रभृति रीतिकाल के सूचक ग्रंथों का यदा-कदा प्रणयन होता रहा। तात्पर्य यह कि रीतिकाल की प्रवृत्तियों के बाँध का रिसाव संवत् 1900 के आगे लगभग सौ वर्षों तक होता रहा। यद्यपि यह स्वाभाविक है कि साहित्यिक प्रवृत्तियों न तो सहसा प्रारंभ होती हैं और न ही सहसा समाप्त होती हैं।

रीतिकाल की आभाहीन छाया से भारतेन्दु युग का साहित्याकाश शनैः शनैः निरभ्र होता जा रहा था। इस युग की कविता की आत्मा तो रीतिकाल के बंधन से मुक्त हो गयी, परंतु कलेवर मुक्त न हो सका। कविता के वस्त्र ब्रजभाषा की लड़ियों से बुने थे और वह अब भी अलंकारों से अलंकृत थी। डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी लिखते हैं कि- 'भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य का प्रवेश द्वार है। कविता में यद्यपि नवीन विचारधारा का समावेश हो गया था तथापि उस पर मध्यकालीन परंपरा का व्यापक प्रभाव बन रहा। इस कारण कुछ विद्वान भारतेन्दु युग को परंपरावादी युग भी कह देते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस युग का मूल्यांकन इतने हल्के ढंग से नहीं करते- 'इस नई धारा की कविता के भीतर जिन नये-नये विषयों के प्रतिबिंब आये, वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारों का सामंजस्य भी घटित कर चले। कालचक्र के फेर से जिस नई परिस्थिति के बीच हम पड़ जाते हैं, उसका सामना करने योग्य अपनी बुद्धि को बनाये विना जैसे काम नहीं चल सकता वैसे ही उसकी ओर अपनी रागात्मिका वृत्ति को उन्मुक्त किये बिना हमारा जीवन फीका, नीरस, शिथिल और अशक्त रहता है।" यहाँ बाबू गुलाबराय का मत उद्धृत करना अत्यंत सटीक होगा। वे लिखते हैं- 'यद्यपि भारतेन्दु बाबू ने ब्रजभाषा में ही कविता की तथापि ये काव्य के विषयों को विस्तार देकर तथा चलन से छूटे हुए 'तोय, 'लोय', 'दीह' आदि शब्दों का बहिष्कार कर उस भाषा को वास्तविक जीवन के अधिक निकट ले आए। इस प्रकार उन्होंने साहित्य का जनता के साथ संबंध स्थापित कर दिया। उनके सत्प्रयत्न से ब्रजभाषा का संकुचित वातावरण मुक्त हो गया। अलंकार और नायिका भेद के संकुचित गढ़ में बैठी हुई कविता कामिनी को उन्होंने देश भक्ति और समाज सुधारकों के वातायनों द्वारा स्वतंत्रता की साँस लेने का अवसर दिया।"

उपर्युक्त तमाम विवेचनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि-भारतेन्दुयुगीन

कविता में निम्नलिखित चार बातों की बुनियाद पड़नी प्रारंभ हो गयी थी-प्रथम, ब्रजभाषा धीरे-धीरे जनभाषा में परिवर्तित होती जा रही थी, द्वितीय-मांसल प्रेम की परिभाषा नई गढ़ी जाने का उपक्रम हो रहा था, प्रेम में वेदना की झलक दिखलायी पड़ने लगी थी, तृतीय काव्य में देश-भक्ति और समाज-सुधार का प्रवेश होने लगा था तथा चतुर्थ बात यह थी कि धार्मिक सम्प्रदायों के मध्य सहिष्णुता के वातावरण का अवतरण इस काल की कविता में होने लगा था। भारतेन्दु युग की उक्त काव्य-प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जो इतर युगीन परिस्थितियाँ थीं, वे भी अत्यंत प्रभावशाली थीं। देश में अंग्रेजी के पैर पूरी तरह जम चुके थे, देश का धन विदेश जा रहा था, जनता पर अकथनीय अत्याचार हो रहे थे और भारत के गौरवशाली अतीत को ग्रहण लग चुका था।

यह समय विभिन्न सुधार आंदोलनों का काल था। इस समय तक राष्ट्रीय राजनीति के क्षितिज पर महात्मा गाँधी अवतरित नहीं हुए थे। भारतीयों के मन में 1857 के प्रथम स्वाधीनता आंदोलन से प्रादुर्भूत राष्ट्रीय चेतना का स्फुरण यदि शेष था, तो उसके दमन की लोमहर्षक यादें भी उसे भयाक्रांत कर देती थीं। यह सत्य है कि भारतेन्दु युगीन कविता नवयुग की सूचक थी, पर इसकी धार में वह पैनापन नहीं था, जो होना चाहिए- '19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में देश की जनता में अंग्रेजी राज्य के प्रति राजभक्ति दिखाने और उसके सुधार की प्रार्थना करने की प्रवृत्ति थी, पर अंग्रेजी शासन में इससे कोई अंतर नहीं पड़ा और उसकी अत्याचारपूर्ण नीति में यंत्रों के विकास के साथ ही आर्थिक शोषण और टैक्सों का एक नया अध्यााय और जुड़ गया।"

भारतेन्दु युग के अनंतर काव्य की प्रवृत्तियों में जिस परिवर्तन को लक्ष्य किया गया है, उसे 'द्विवेदीयुगीन काव्य' की संज्ञा से अभिहित किया गया और इसके प्रवर्तन का श्रेय प्राप्त हुआ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को। भारतेन्दु युग में जन्मी आधुनिक हिन्दी कविता को कैशौर्य और युवा रूप प्रदान करने में इस युग का विशिष्ट अवदान है। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक के रूप में काव्य-भाषा को परिष्कृत किया, संस्कारित किया और उसे व्याकरण सम्मत बनाया। द्विवेदी जी के महत्त्व को रेखांकित करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि-'खड़ीबोली के पद्य विधान पर भी आपका पूरा-पूरा असर पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि उनके कारण भाषा में बहुत कुछ सफाई आयी। बहुत कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी और बहुत से लोग ब्रज और अवधी आदि का मेल भी कर देते थे। 'सरस्वती' के सम्पादन काल में उनकी प्रेरणा से बहुत से नये लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे।

डॉ. शिवकुमार शर्मा इस युग की काव्य-प्रवृत्ति को उद्घाटित करते हुए लिखते हैं- 'निःसंदेह भारतेन्दु युग में कविता ने एक नवीन मोड़ लिया और उसमें आधुनिकता का सहज समावेश हुआ, किंतु उसमें प्राचीनता के प्रति मोह भी बना रहा। द्विवेदी युग में पहुँचते-पहुँचते उसमें बाल सुलभ चंचलता और विमोहकता का स्थान अनुशासन, गंभीरता और विचारात्मकता ने ले लिया। इस युग की समूची साहित्य-चेतना के सूत्रधार स्वनामधन्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। भारतेन्दु युग में कविता में जिन नवीन प्रवृत्तियों का उद्भ्म हुआ, वे इस युग में क्रियात्मक रूप से विकसित हुई। द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के भावपक्ष और कला पक्ष दोनों में एक नूतन आदर्श की प्रतिष्ठा की।" उक्त उद्धरण में यह बताया जा चुका है कि भारतेन्दुयुगीन कविता की नूतन प्रवृत्तियाँ इस युग में (द्विवेदी युग में) क्रियात्मक रूप से विकसित हुईं।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त इसी तथ्य को रेखांकित करते हुए लिखते हैं- 'काव्य परंपराओं की सृष्टि से यह युग पूर्ववर्ती युग से अविभाज्य है, पूर्ववर्ती युग की ही परंपराओं एवं प्रवृत्तियों का विकास इस युग में हुआ। परिवर्तन केवल दो क्षेत्रों में हुआ-एक तो नेतृत्व में और दूसरे रचना-पद्धति एवं काव्य भाषा में। अब भारतेन्दु का स्थान महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ग्रहण कर लिया तथा उनके प्रभाव एवं प्रयास से मुक्तक शैली के स्थान पर प्रबंधात्मक की तथा ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली की प्रतिष्ठा हुई। 10

यह तो तय है कि द्विवेदी युग में काव्य-भाषा का परिष्करण हुआ और इसकी प्रकृति इतिवृत्तात्मक रही। इस युग की काव्य-भाषा मानवीय भावनाओं का सूक्ष्मांकन कर ही नहीं सकती थी, क्योंकि अभी काव्य-भाषा गढ़ी जा रही थी और गढ़ने का खुरदुरापन इसमें था, जो सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिए समर्थ न थी। यह सामर्थ्य तो द्विवेदी युग के पश्चात् भाषा को प्राप्त हुआ-छायावादी युग में। द्विवेदी युग की काव्य-प्रकृति विश्लेषणात्मक नहीं थी। इसमें गंभीर चिंतन और सूक्ष्म विश्लेषण के लिए अधिक कुछ था भी नहीं। भाषा भावों की संवाहिका होती है, भाषा जितनी सशक्त होगी, भाव-स्पंदन उतनी ही तीव्रता से काव्य-पथ पर अग्रसर होगा।

द्विवेदी युग भाषा के परिमार्जन का काल था। खड़ीबोली काव्य-भाषा के पथ पर अग्रसर होने के लिए इस काल में तैयार हो रही थी। यह स्वाभाविक है कि काव्य-भाषा के सूक्ष्म सौंदर्य का उद्घाटन इस काल की भाषा नहीं कर सकती थी। द्विवेदीयुगीन काव्य की भाषायी प्रकृति अभिधात्मक तो थी ही, काव्य रूढ़ि का स्वरूप भी प्रबंधात्मक था। प्रबंध काव्यों के प्रणयन में इस काल के काव्यकारों का

मन अधिक रमा। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' (महाकाव्य), 'पंचवटी', 'नहुष', 'अनय', 'विष्णुप्रिया', 'तिलोत्तमा' (खण्ड-काव्य), अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिजीध के 'प्रियाप्रवास', 'वैदेही वनवास' (महाकाव्य), रामनरेश त्रिपाठी के खण्डकाव्य 'पथिक', 'मिलन', सियारामशरण गुप्त का खण्डकाव्य 'अनाथ' आदि इस युग में प्रणीत हुए। कहा जा सकता है कि द्विवेदीयुगीन काव्य की प्रकृति इतिवृत्तात्मक और प्रबंधात्मक रही है।

इस युग की प्रवृत्ति का मूल स्वर सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं साहित्यिक उन्मेष था। डॉ. पूनमचन्द्र तिवारी का कथ्य इस प्रसंग में उद्धृत करना प्रासंगिक होगा। वे लिखते हैं- 'द्विवेदीयुगीन काव्य की प्रवृत्तियों एवं प्रेरणाओं या उपादानों पर विचार करने के पूर्व यह भी ध्यान रखना होगा कि कवि या लेखक के सृजन में चाहे उसे कितना भी अंकुश में रखा जाए, व्यक्तिगत प्रेरणा तो होती ही है। यही वह सर्जक है, सृजन के क्षणों में वह अनिर्वचनीय सुख का अनुभ करता है। एक विराट जीवन की प्रेरणा उसे समाज के भीतर दिखायी देती है और तब कहीं

सामाजिक स्वीकृति का लोक कल्याण-समन्वित शाश्वत साहित्य उसकी लेखनी से जन्म पाता है। द्विवेदीयुगीन काव्य में यह जन-समर्थन, सामाजिक स्वीकृति और विराट जीवन की कालजयी भावना बिना किसी आहट के प्रवेश कर गयी थी।"

द्विवेदीयुग की राष्ट्रीय, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि सामान्य नहीं थी। भारत परतंत्र था और समाज पतनोन्मुख, गरीबी, भुखमरी आदि का तो प्रस्तार था ही, सांस्कृतिक क्षरण भी रोके नहीं रूक रहा था। इन सबसे अहम प्रश्न था-मानव जीवन के उत्थान का। इस युग के कवियों ने इन समस्याओं को चुनौती के रूप में स्वीकार किया और तदनुरूप काव्य-साधना की ओर प्रवृत्त हुए। विवेच्य काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति तर्क और बुद्धिवाद रही है। डॉ. तिवारी लिखते हैं- 'द्विवेदीयुगीन काव्य में धर्म, समाज, दर्शन, व्यक्ति, समष्टि या किसी भी क्षेत्र में तर्क का ही आग्रह विशेषतः मान्य हुआ। जो आदर्श तर्क की तुला पर सही उतरा, वह स्वीकार किया गया। अलौकिकता, अति मानवीय स्वरूप या आश्चर्यचकिते करने वाली पीठिका में अब कोई रुचि नहीं थी। द्विवेदी जी और उनके युग ने इस माँग को और जोरदार शब्दों में प्रचारित किया। सामाजिक और राजनीतिक न्याय तथा आजादी, समता और बंधुत्व जैसे विचारों को समाज में फैलाया गया। परंतु जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, इस युग के काव्य में गहन चिंतन और विश्लेषण का अभाव है। मानवता के प्रति आग्रह, आदर्श की स्थापना, उपदेशात्मक काव्य, राष्ट्र प्रेम और सांस्कृतिक नवोन्मेष इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं।

द्विवेदीयुगीन काव्य ने भारतेन्दु युगीन काव्य-प्रवृत्तियों का विस्तार किया। इस

युग में भाषायी प्रकृति और काव्य-रूदि अपने पूर्ववर्ती काल से सर्वथा मौलिक एवं विलग रही। किंतु इस युग के क्रांतिकारी परिवर्तनों का दूरगामी प्रभाव अवश्य पड़ा। डॉ. तिवारी के शब्दों में सारांशतः कहा जा सकता है कि 'काव्य के क्षेत्र में द्विवेदी युग एक ऐसी काल चेतना है, जिसके प्रदेय स्वरूप हिन्दी काव्य को छायावादी, प्रगतिशील, प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी, प्रतीकवादी, अभिव्यंजनावादी और अधुनातन समस्त वादों-प्रवादों की जीवन-दृष्टियाँ प्राप्त हुईं। अनेक साहित्यिक आंदोलनों के काव्याकांक्षी क्षितिज एक के बाद एक सामने आते गये। यह द्विवेदी युग की अपनी आत्म शक्ति थी, जिसने अपने पूर्ववर्ती भारतेन्दु युग की समस्त क्षेत्रों में व्याप्त भावनात्मक प्रतिद्वंद्विता को न केवल चुनौती के रूप में स्वीकार किया, बल्कि उसमें अपने युग की माँग के अनुकूल परिष्कारों को नई धार देकर, भाषा, विषय-वस्तु और शैली में एक नया आत्मविश्वास, मंगलमय संस्कार, विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण, दीक्षित प्रगतिशीलता और प्रेरणाएँ, असम्पृक्त अनुकरण तथा अनिवार्य एवं सार्थक प्रतिमानों से सम्पुष्ट ऐसी केन्द्रीयता उत्पन्न कर दी कि हमें कहना पड़ता है कि हिन्दी काव्य के विकास, संगति स्थापना और अक्षय कीर्ति के मूल में द्विवेदी युग का अमृत घट ही एक मात्र आग्रह है। 13

संदर्भ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 3
2. वही, पृ. 9
3. वही, पृ. 9
4. अभिनव साहित्यिक निबंध डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ. 59
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 563
6. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास बाबु गुलाब राय, पृ. 212
7. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों डॉ. जयकिशन प्रसाद, पृ. 272
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 583
9. हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 443
10. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ. 40
11. द्विवेदीयुगीन काव्य डॉ. पूनमचन्द्र तिवारी, पृ. 122
12. वही, पृ. 128
13. वही, पृ. ५

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य और दलित चेतना

आज साहित्य के क्षेत्र में और सामाजिक क्षेत्र में जिस विशेष संदर्भ में दलित शब्द का प्रयोग किया जा रहा है, उसका अर्थ विशिष्ट है। शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ यदि ग्रहण किया जाए, तो इसका पर्याप्त विस्तार है। शब्दकोश के अनुसार 'दलित' शब्द का अर्थ है-कुचला हुआ, दबाया हुआ (जैसे दलित वर्ग), नष्ट किया हुआ। इसी प्रकार 'चेतना' शब्द का शब्दकोशीय अर्थ है-होश में आना, सावधान होना, सोच-समझ कर ध्यान देना। स्त्रीलिंग 'चेतना' शब्द ज्ञानमूलक, मनोवृत्ति, वृद्धि, समझ, होश-हवास, याद-स्मृति अर्थों का द्योतक हैं। परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में इस शब्द का अर्थ उस विवेक से है, जो जागरूक है और विभिन्न समस्याओं के समाधान खोजने में सक्षम है। इस प्रकार 'दलित चेतना' का वास्तविक अर्थ ऐसी समझ, ऐसे विवेक से है जो दलितों की समस्याओं के समाधान हेतु सजग हो एवं समर्थ हो। दलित चेतना के व्यापक अर्थ की परिधि में उस वर्ग का भी समावेश हो जाता है, जो शोषित है, पीड़ित है, उपेक्षित है और व्यथित है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में दलित चेतना का यही व्यापक भाव समाहित है।

द्विवेदी युग के सर्वाधिक सशक्त, समर्थ और लोकप्रिय कवि थे-मैथिलीशरण गुप्त, जिन्होंने खड़ी बोली हिन्दी को भाषागत संस्कार दिये। यद्यपि इस काल के पूर्व बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र काव्य के कथ्य और शिल्प को नवोन्मेष प्रदान कर चुके थे, परन्तु उसमें खुरदरापन था। इसको सुघड़ और स्थिर रूप द्विवेदी युग में ही प्राप्त हुआ जिसके प्रधान शिल्पी गुप्त जी थे। गुप्त जी ने 'रंग में भंग' (1909), 'जयद्रथ वध' (1910), 'पद्य-प्रबंध' (1912), 'भारत-भारती' (1927), 'किसान' (1916), 'अनघ' (1925), 'पंचवटी' (1925), 'स्वदेश गीत' (1925), 'हिन्दू' (1927), 'सैरन्ध्री' (1927), 'विकट भट' (1928), 'साकेत' (1932), 'यशोधरा' (1932), 'द्वापर' (1932), 'नहुष' (1940), 'जय भारत' (1952), 'विष्णुप्रिया' (1957) आदि काव्य-कृतियों के द्वारा साहित्य रसिकों को युगीन नव जागरण का संदेश दिया।

गुप्त जी परम वैष्णव थे और गाँधी-दर्शन से प्रभावित थे। गुप्त जी का युग ही नव जागरण का युग था और देश के सामाजिक जीवन में तेजी से परिवर्तन की बयार चल रही थी। इनके काव्य-सृजन के समय अनेक समाज-सुधारकों के प्रयासों से सामाजिक परिवर्तन परिलक्षित होने लगे थे। राजा राम मोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्रह्म समाज के विचारों से समाज, वर्ग और वर्णिक भेद-भाव की जंजीरें टूटने लगी थीं। छुआछूत, बहुविवाह, सामाजिक विषमता और परम्परागत रूढ़ियाँ शिथिल हो रही थीं। आर्यसमाज की स्थापना कर स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इन रूढ़ियों पर कुठाराघात कर रहे थे। अस्पृश्यता, पर्दा-प्रथा, सती प्रथा, बाल हत्या, नारियों की अशिक्षा आदि का तीव्र विरोध होने लगा था। थियोसोफिकल सोसाइटी, राधास्वामी मत, प्रार्थना समाज आदि संस्थाएँ इस दिशा में सतत् प्रयास कर रही थीं। नव जागरण के इन नव विचारों का पर्याप्त प्रभाव गुप्त जी के काव्य पर पड़ा और तदनुसार ही इनके संपूर्ण काव्य में युगीन-चेतना का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है।

गुप्त जी अपनी प्रारंभिक रचना (1909-1957) से अंतिम रचना तक विशुद्ध गाँधीवादी रहे। उनका संपूर्ण समर्पण गाँधीवाद के प्रति रहा। यही कारण है कि उनका काव्य दलित वर्ग के उन्नयन की उत्कट अभिलाषा का प्रतिबिम्ब है। गुप्त जी ने अपने काव्य में दलित शब्द का प्रयोग अस्पृश्यों के लिए तो किया ही है, पर इसका व्यापक अर्थ ही उन्हें स्वीकार्य है। इस व्यापकता में विधवा, परित्यक्ता और विवश स्त्रियाँ हैं, पसीना गिराते, अपमान की मार झेलते मजदूर और किसान हैं; गरीब, बेसहारा तथा अशक्त आमजन हैं और शूद्र से लेकर अन्त्यज, हरिजन, अछूत, अस्पृश्य, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति तक की शाब्दिक यात्रा करने वाले दलित भी हैं। इस व्यापक दृष्टि के सूत्र उनकी कृति 'हिन्दू' में स्पष्ट रूप से प्रतिविम्बित हैं:

हे हिन्दू तुम हो क्यों हीन ?

क्यों हो दलित दुःखी अति दीन ?

उक्त छंदांश की पाद-टीप से स्वयं गुप्त जी ने 'दलित' शब्द का जो अर्थ दिया है, वह है-पीड़ित, खण्डित, अछूत। जो अस्पृश्य है केवल वही दलित नहीं है, दुःखी, लाचार और टूटा हुआ जन भी दलित है। गुप्त जी विशुद्ध मानवतावादी हैं और वे मानव की पूर्ण प्रतिष्ठा चाहते हैं। खण्डित मानवता में उनकी आस्था नहीं है। इसीलिए उनकी दलित चेतना संकुचित नहीं है। खण्डित मानव को अखण्ड बनाने का प्रयास उनके काव्य में है।

स्त्रियों में सर्वाधिक पीड़ित, दुखी एवं पद दलित है-विधवा। इसके दुःख, अपमान और क्षोभ की मात्र कल्पना ही की जा सकती है। यह कल्पना भी सहृदय

ही कर सकता है। क्योंकि संवेदना सहृदय में ही होती है। इस दलित (विधवा) स्त्री का उद्धार पुनर्विववाह द्वारा हो सकता है और उसे नवजीवन प्राप्त हो सकता है। कवि उन्हें लताड़ता है, जो स्वयं दुराचार एवं व्यभिचार में लिप्त हैं, परन्तु विधवा विवाह के विरोधी हैं:

विधवाओं का पुनर्विवाह, नहीं उच्च आदर्श-निवाह?

पर उससे अच्छा सौ बार, जो है दुराचार व्यभिचार?

तत्कालीन समाज में अनमेल विवाह भी प्रचलित था। इन विवाहों से भी स्त्रियाँ पतन के मार्ग पर स्वतः बढ़ जाती थीं। इसका उत्तरदायी भी मनुष्य ही है। गुप्त जी अनमेल विवाह का विरोध करते हैं :

छोड़ो वे बेजोड़ विवाह, होता है जिनसे गृह दाह।

दो अबलाओं को अवकाश, कि वे करें निज जड़ता नाश।।

मानव समाज में यह अत्यंत लज्जाजनक है कि मनुष्य अपने पालतू पशु-पक्षियों की देखभाल तो मनोयोग से करता है, पर जो स्त्री उसी समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है उसकी दुर्दशा की ओर से आँखें मूंद लेता है :

पाले हुए पशु-पक्षियों का, ध्यान तो रखते समी,

पर नारियों की दुर्दशा, क्या देखते हैं हम कभी?

गुप्त जी की काव्य-साधना के संबंध में यह तथ्य सर्वविदित है कि उन्होंने पौराणिक नारी पात्रों को लेकर उपेक्षित और वंचित नारियों को स्वर प्रदान किया- "गुप्त जी के 'साकेत' की उर्मिला, 'यशोधरा' की यशोधरा और द्वापर की चित्रण नारी की वकालत, उसकी प्रशंसा और तरफदारी के प्रमाण हैं।""

अस्पृश्यता इस देश का गलित कुष्ठ रहा है और वर्तमान में भी इसकी भयावहता कम नहीं है। इस कोढ़ से देश के सुदर्शन अवयव गल-गल कर विकृत हो रहे हैं और नष्ट हो रहे हैं। गुप्त जी का काव्य मानस इससे अत्यंत व्यथित है। वे पुकार उठते हैं : **जिन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी।**

इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु नहीं वैसी वाणी।।

इन पशु मूक प्राणियों में गुप्त जी ने दिव्य वाणी का संचार किया। कवि का तो यहाँ तक मानना है कि अंग्रेजी राज के भीषण पाश से हम मुक्त इसीलिए नहीं हो पा रहे हैं कि हमने ईश्वर की रचना अस्पृश्यों के लिए ही ईश्वर के मंदिर के कपाट बंद कर रखे हैं और ईश्वर के कोप का कहर हम पर परतंत्रता के रूप में टूटा है। हमारी दुर्बलता और दीनता का यही एक मात्र कारण है: है

समाज शिशु की जो घाय, उस संस्था पर यह अन्याय?

कि हो देव-दर्शन तक बंद, रहा न ईश्वर भी स्वच्छंद ?

फिर हम कैसे हों स्वाधीन, न हों मला क्यों दुर्बल दीन ?

हम पर ईश्वर की फटकार, रोका हमने उसका द्वार ?

जो सबके काम आता हो वह अछूत कैसे हो सकता है? यदि ये गंदगी को साफ न करें तो अभिजात्य वर्ग क्या करेगा? उसका अभिजात्यपन सारा धरा रह जाएगा:

क्यों अछूत हैं आज अछूत, ये हैं हिन्दू कुल सम्भूत।

गाते हैं श्री हरि का नाम, आते हैं हम सबके काम।

रखते हों यदि हम कुछ शर्म, करें न अपनों को बेधर्म।

घरे रहें सब शिखा कि सूत्र, जो न हटावें ये मल-मूत्र। 10

अस्पृश्यों के प्रति जुगुप्सा भाव रखने का एक कारण यह भी है कि वे मांसाहारी हैं। पर गुप्त जी का मत है कि क्षत्रिय भी तो मांसाहार करते हैं, शिकार करते हैं, फिर वे अस्पृश्य क्यों नहीं समझे जाते-

करते हैं क्षत्रिय आखेट, भरते हैं आमिष से पेट।

अन्त्यज क्या करते हैं और मरते हैं निज प्रभु का पौर।"

इतना ही नहीं, गुप्त जी उन रक्त चूसने वाले साहूकारों से अन्त्यजों को श्रेष्ठ समझते हैं, जो मनुष्य की लाचारी का लाभ उठाकर उन्हें लूटते हैं। गुप्त जी इन शोषकों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं :

अन्त्यज वैसे नहीं कठोर, जैसे साह बने वे चोर।

जो कृषकों का सब कुछ मूस, रहे रक्त भी उनका चूस ।।12

गुप्त जी मात्र शाब्दिक अरण्यरोदन में विश्वास नहीं करते। वे अस्पृश्यता के कारणों का भी संधान करते हैं और उसके निराकरण का उपाय भी सुझाते हैं। सवर्ण लोग दलितों से इसीलिए भी घृणा करते हैं कि वे गंदगी से परिपूर्ण जीवन जीते हैं। या यों कहें कि गंदगी से भरा जीवन जीने के लिए विवश हैं। यद्यपि मन में प्रति अस्पृश्यता के भाव आना ही अस्पृश्यता है, तथापि यदि दलित स्वच्छतापूर्वक रहने लगें तो अस्पृश्यता उन्मूलन में पर्याप्त सफलता प्राप्त हो सकती है : **रहो स्वच्छता सहित सुदृश्य, मलिन भाव ही है अस्पृश्य।**

ऊँचा लक्ष्य करो तुम बिद्ध, साधना कर हो जाओ सिद्ध ।।13

साफ-सफाई से जीवनयापन करना तो ठीक है, पर हजारों वर्षों की चली आ रही परम्परा को दूर करने के लिए दलितों को स्वयं आगे आने का साहस जुटाना होगा, तभी उनकी मुक्ति संभव है :

दलित बन्धु शुचिता के दूत, उठो, कि छुमन्तर हो छूत,

करो अपूर्व अछूते कर्म, छू न सके हाँ तुम्हें विधर्म।।

गुप्त जी के पूर्व संभवतः किसी कवि ने दलित समाज के अंग कृषकों-श्रमिकों को अपनी कृति समर्पित कर उन्हें सम्मान न दिया होगा। पर गुप्त जी ने अपनी कृति 'किसान' को ही समर्पित की है :

होते हैं सैकड़ों निछावर एक 'ठोट' पर जिसके,

फहराते विश्वास केतु हैं भान-कीट पर जिसके।

राजा और प्रजा दोनों का जिसका मुख दर्पण है,

उसी 'ऑनरेबुल' पदवी को यह 'किसान' अर्पण है।।5

भारतीय कृषक से बढ़कर दलित और कौन हो सकता है? उसका करुण क्रंदन अत्यंत हृदयद्रावक है :

कृषि ही थी तो विभो, बैल ही हमको करते,

करके दिन भर काम, शाम को चारा चरते।

कुत्ते भी हैं किसी भांति दुग्धोदर भरते,

करके अन्नोत्पत्र हमीं हैं भूखे मरते ।।

नारी, दलित और कृषक-मजदूर में अद्‌भुत समानता है। तीनों शोषित हैं, तीनों सबल समाज द्वारा सताये गये हैं, तीनों उपेक्षित, पीड़ित और अपमानित हैं। तीनों की मुक्ति होनी चाहिए, तीनों इस हेतु छटपटा रहे हैं, प्रयास कर रहे हैं।

वैष्णव तो तैणै कहिये जे पीर पराई जाणें रे।

गुप्त जी पराई पीर को समझते थे। यही कारण है कि गुप्त जी के काव्य में दलित चिंतन का केवल अस्पृश्यता से संबंधित तात्पर्य नहीं है अपितु उनके दलित चिंतन का आयाम अत्यंत विस्तृत है।

संदर्भ :

1. हिन्दी शब्दकोश: सं. डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. 286
2. वही, पृ. 267
3. हिन्दू : मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 16
4. वही, पृ. 78
5. वही, पृ. 79
6. भारत भारती : मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 134
7. द्विवेदीयुगीन काव्य : डॉ. पूनमचन्द्र तिवारी, पृ. 139
8. पंचवटी : मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 19
9. हिन्दू : मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 139
10. वही, पृ. 141

11. हिन्दू : मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 146

12. वही, पृ. 145

13. वही, पृ. 143

14. वही, पृ. 142

15. किसान: मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 3

16. वही, पृ. 6

वैदिक दर्शन और जयशंकर प्रसाद

वैदिक साहित्य में निहित ज्ञान शांति और सद्भाव की स्थापना में प्रमुख भूमिका निभा सकता है-ऐसी प्रसाद जी की मान्यता है- 'सरस्वती और यमुना के तट पर शुद्ध संवाद हो रहे हैं। इन्हीं की विशुद्ध ज्ञानधारा से यह पृथ्वी अनंत काल तक सिंचित होगी, लोगों को परमात्मा की उपलब्धि होगी, लोक में कल्याण और शांति का प्रचार होगा। सब लोग सुख पूर्वक रहेंगे।' प्रसाद जी का मानना है कि मनुष्य की शांत न होने वाली कामनाओं की दिन-रात बढ़ती ज्वाला ही अनेक प्रकार के संघर्षों की जन्मदात्री है। इन कामनाओं का वेग यदि शनैः शनैः मंद होता जाए तो संघर्षों का शमन भी धीरे-धीरे लगेगा और सद्भाव एवं शांति साम्राज्य स्थापित होने में फिर अधिक समय नहीं लगेगा। सतत् अभ्यास के कारण कामनाएँ आत्मज्ञानी को चंचल नहीं कर पातीं। 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य अपनी कूटनीति से विशाल साम्राज्य की स्थापना करता है तथा उसका नियंत्रण भी करता है, परंतु अशांति से वह मुक्त नहीं है। चन्द्रगुप्त से वह छोटी-सी बात पर क्षुब्ध हो जाता है।

वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि- 'वह ब्राह्मण है और उसे आनन्द समुद्र में शांति द्वीप का अधिवासी होना चाहिए था। चाणक्य उस आनंद और शांति की खोज में प्रयत्नशील होता है, जिससे वह अपने ब्राह्मणत्व को सार्थक कर सके। इसे यह आनन्द और शांति महर्षि दांडायन के तपोवन में प्राप्त होती है। चाणक्य तपोवन में जाता है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में महर्षि व्यास और च्यवन ऋषि के तपोवन का चित्रण है और भी अन्यान्य नाटकीय पात्रों का तपोवन में जाना चित्रित है, पर यह उनकी पलायनवादी नियति नहीं है।

प्रसाद-साहित्य में ऐसे अनेक पात्रों का अंकन हुआ है, जो आत्म-ज्ञान की उस दिव्य भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। वे पात्र अपने चिंतन और कर्म में निर्विकार तथा उदात्त हैं। उन्हें सांसारिक बाधा-व्यथाएँ किसी तरह पीड़ित नहीं करतीं। इस प्रसंग में यह बात लक्ष्य करने की है कि प्रसाद जी के आत्मज्ञानी पात्र जीवन-संघर्ष से

त्रस्त होकर पलायन करते हुए निवृत्त एकांतवादी नहीं हो जाते, अपितु कोलाहल से दूर एकांत में जाकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करके उसे समाज के लिए सुलभ करते हैं। वे अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति पूरी तरह जागरूक हैं। 'चन्द्रगुप्त' के महर्षि दांडयायन चिंता, काम, शोक, उद्वेग आदि से ऊपर उठकर मुक्त भाव से कर्त्तव्य पालन करते हैं। शत्रु-मित्र सभी उनके कृपा भाजन बनते हैं। संसार में अशांति का मूल कारण है-दुःख ! महात्मा बुद्ध के अनुसार- 'जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। जाति, जरा, व्याधि, मरण, शोक, दौर्मनस्य, उपायास (परेशानी), इष्ट की अप्राप्ति, अप्रिय का संयोग तथा प्रिय का वियोग आदि दुख हैं।" इन दुखों से निवृत्ति ही सुख-शांति प्रदायक हो सकती है।

बुद्ध का यह दार्शनिक 'दुखवाद' प्रसाद-साहित्य में व्यक्त है। 'राज्यश्री' नाटक में राज्यश्री कहती है- 'दुखों को छोड़कर और कोई न मुझे मिला, मेरा चिर-सहचर।' दुखों से छुटकारा क्यों नहीं मिल पाता। इसका कारण स्पष्ट करती हुई राज्यश्री कहती है-'दुखमय मानव जीवन है। उसे अभ्यास पड़ जाता है, इसीलिए सबके मन में तीव्र विराग नहीं होता।" 'विशाख' नाटक में क्रूरता, हिंसा और प्रतिहिंसा का ताण्डव देखकर इरावती विकल हो जाती है- 'इतना दुःखपूर्ण संसार क्यों बनाया मेरे देव! यह तुम्हारी ही सृष्टि है।" परंतु प्रसाद जी ने इस दुःखवाद को केवल चित्रित कर ही अपनी रचना-धर्मिता को पूर्ण नहीं किया अपितु उसे लोक की ओर उन्मुख किया है- 'असंख्य दुःखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुःख समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया, तो सहस्त्रों स्वर्ग तुम्हारे अंतर में विकसित होंगे। फिर परदुःख कातरता में ही आनंद मिलेगा। उठो ! असंख्य आहें तुम्हारे उद्योग से अट्टाहास में परिणत हो सकती हैं।

प्रसाद जी की काव्य-यात्रा (चित्राधार, कानन कुसुम, महाराणा का महत्त्व, प्रेम पथिक, झरना, आँसू, लहर, कामायनी) अत्यंत विशद है। उनकी काव्य-कला की सम्पूर्णता 'कामायनी' में परिलक्षित हुई है। भारतीय दर्शन और अध्यात्म की अभिव्यक्ति 'कामायनी' में है और भारतीय दर्शन एवं अध्यात्म में निहित हैं-सद्भाव और शांति के सूत्र। सदभाव और शांति एकात्मवाद अथवा मानवतावाद से ही संभव है। एक ईश्वर की सत्ता में व्याप्त है। प्राणीमात्र से प्रेम करना ही सद्भाव और शांति स्थापना का एकमेव उपाय है :

प्रकृति मिला दो विश्व प्रेम
में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।

अथवा

औरों को हँसते देखो मनु

हँसो और सुख पाओ,

अपने सुख को विस्तृत कर लो

सबको सुखी बनाओ ।

बुद्ध दर्शन में जिस दुःखवाद की चर्चा की गई है। प्रसाद जी ने भी उसकी निवृत्ति को आनंद का कारण माना है- 'भारतीय दर्शन मात्र कुतूहल शांति का प्रयास नहीं है।

उसका निश्चित लक्ष्य है-निश्चित लक्ष्य है-दुख की आत्यंतिक निवृत्ति और शाश्वत आनन्द की उपलब्धि। यह आनन्दवादी विचारधारा वैदिक काल से ही आगे बढ़ती रही है। इस धारणा से विशेषतया अनुप्राणित प्रत्यभिज्ञा दर्शन में केवल द्वैतवादियों के जगन्मिथ्यावाद का तिरस्कार करके जगदानंद और सामरस्य के सिद्धांत की प्रतिष्ठा की गयी। प्रसाद जी भी उस सिद्धांत के ग्रहीता और पोषक हैं।" प्रसाद जी की यह धारणा है कि परमब्रह्म सर्जक है :

सुन्दर वितान कैसा, आकाश भी तना है,

उसका अनंत मंदिर यह विश्व ही बना है।12

जब सम्पूर्ण विश्व ही उस परमसत्ता का निवास है, तो विश्व में अशांति, राग-द्वेष, घृणा, विरोध जैसे तत्त्व टिक ही नहीं सकेंगे क्योंकि परमब्रह्म का सहज स्वभाव है-सत-चित्त-आनंद से युक्त सच्चिदानंद, तो फिर विश्व का जगत का स्वभाव भी आनंद से परिपूर्ण होना चाहिए। 'कामायनी' के मनु की दृष्टि में जीवन जड़ है और इसका परिणाम है-निराशा। परंतु श्रद्धा मनु के विचार का जाल काटती है :

कर रही लीलामय आनन्द,

महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।

विश्व का उन्मीलन अभिराम,

इसी में सब होते अनुरक्त। 13

अर्थात् यह संसार महाचिति की लीलामयी अभिव्यक्ति है-अतः यह मूलतः ही मंगलमय है, श्रेयस्कर है और आनंदमय है। डॉ. नगेन्द्र 'कामायनी' के संबंध में लिखते हैं- 'चित्त वृत्तियों के सामंजस्य और वस्तु-तत्त्व तथा आत्म-तत्त्व के एकात्म्य के द्वारा वह अंततः आनंद की भूमिका ही तैयार करता है। प्रसाद प्रेम और सौंदर्य के कवि हैं। व्यक्तिगत स्वभाव-संस्कार और शैव दर्शन के प्रभाव से सौंदर्य के प्रति उनके मन में अवाघ आकर्षण है-उनके काव्य में ही नहीं नाटकों और गद्य-साहित्य में भी राशि-राशि सौंदर्य बिखरा पड़ा है। 'कमायनी' की संकल्पना सौंदर्य की

सृष्टि-सुन्दर कलाकृति मात्र की रचना के लिए नहीं हुई। उसके मूल में महत्तर उद्देश्य की..... प्रेरणा है। 14

'कमायनी' पुनरूत्थानवादी महाकाव्य है। इस संबंध में डॉ. तारकनाथ बाली लिखते हैं- "आधुनिक युग के आरंभ में नये विचारों और नई यथार्थ भूमियों का विकास हुआ, जो कि मानव स्वभाव की सहज प्रगति की स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ थीं। भौतिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि यंत्र आधुनिक युग का प्रतीक है। एकता, आजादी, अंतर्राष्ट्रीयता, सहअस्तित्व आदि सभी आदर्श यांत्रिक विकास से संबद्ध और प्रेरित होते हैं। यंत्र ने सभी देशों की प्राचीन परंपराओं को चुनौती दी थी और हरेक देश ने अपने-अपने ढंग से इस चुनौती का मुकाबला किया था। इसी चुनौती का सामना करने के लिए प्राचीन परंपराओं की कुछ धाराओं के पुनरूत्थान की जरूरत महसूस हुई और कुछ राष्ट्रों ने अपने सारे अतीत और वर्तमान को यंत्र की भेंट चढ़ा दिया और उसके नियंत्रण को स्वीकार कर सामाजिक निर्माण की साधना करने लगे। आवश्यकता इस बात की है कि आधुनिक बोध के संदर्भ में कामायनी के इस दर्शन की उपलब्धियों और सीमाओं का विवेचन किया जाए। सामरस्य के परिवेश में कवि ने प्रेम, अहिंसा, सत्य, नियति और कर्मवाद की प्रतिष्ठा की है। सभी मूल्य परस्पर संबद्ध हैं और इस संबद्धता का आधार शैव-दर्शन है। इन मूल्यों की शांति और सीमाएँ दोनों ही उनकी परस्पर संबद्धता में बँधी हुई हैं। इन मूल्यों पर तो स्वतंत्र रूप से और किसी प्रसंग विशेष में घोड़ा-बहुत विचार होता रहता है-परंपरावादी दृष्टि से भी और प्रगतिवादी दृष्टि से भी। 15

यहाँ यह प्रसंग उल्लेखनीय है कि 'कामायनी' के 'मनु' सारस्वत प्रदेश का पुननिर्माण करते हैं। वहाँ यंत्रों का भी विकास होता है। यहाँ मनु और प्रजा का संघर्ष होता है। 'कामायनी' की 'इड़ा' बुद्धि की प्रतीक है। यहाँ प्रसाद जी द्वारा यांत्रिकता और अतिबुद्धिवाद का विरोध करना और देव संस्कृति, देववाद का समर्थन करना प्रतीत होता है, पर जैसा अन्यत्र निर्दृष्ट किया जा चुका है कि प्रसाद जी की दृष्टि समन्वयवादी है, उन्होंने विरोध नहीं इन सबका समन्वय करने का प्रयास किया है। इसी समन्वयवाद से विश्व में सद्भाव और शांति स्थापित हो सकती है। जीवन में अध्यात्म (हृदय) भी आवश्यक है और बुद्धि भी।

प्रसाद जी ने 'कामायनी' में शैव-दर्शन की पुनर्प्रतिष्ठा की है। इस दर्शन के अनुसार शिव एक मात्र परम तत्त्व हैं। यही परमशिव हैं जो नाना रूपों में स्फुरणशील रहते हैं। परमशिव के आनन्द प्रधान स्वरूप को हृदयंगम करना प्रसाद जी का अभीष्ट रहा है। 'कामायनी' के 'आनंद सर्ग' में प्रसाद जी ने इस

आनन्दवाद को व्यष्टि से समष्टि की ओर मोड़ा है। यह समाध्टिगत आनंद मानव-चेतना के शांतिपूर्ण, ममता और विश्वास तथा समन्वय की समरस भावना से अनुप्राणित विस्तार का पर्याय है। चेतना के परिष्करण से ही यह आनंद प्राप्त हो सकता है। यह आनंद खंडित नहीं अखण्ड है, घना है :

समरस थे जड़ या चेतन,

सुन्दर साकार बना था।

चेतनता एक विलसती

आनंद अखण्ड घना था।"

प्रसाद-साहित्य में सद्भाव और शांति को समरसता के द्वारा ग्रहण किया गया है। प्रथम उन्होंने कामनाओं के आधिक्य को दुख एवं संघर्ष का कारण माना है। यदि कामनाओं को नियंत्रित कर लिया जाए तो विश्व पटल पर दुख की अनुभूति ही नहीं होगी। द्वितीय चेतना का इतना विकास हो कि विश्व में वह एक ही परम सत्ता को स्वीकार करने को तैयार हो जाए। इस प्रकार चेतना की व्यापकता से समरसता की व्युत्पत्ति होगी और समरसता का साम्राज्य स्थापित होने पर सर्वत्र सद्भाव और शांति होगी, ईर्ष्या-द्वेष, कलह आदि प्रवृत्तियों का शमन होगा। आज सद्भाव और शांति तथा मानव के अस्तित्व को जबरदस्त खतरा उत्पन्न हो गया है। वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मनुष्य की इच्छाओं एवं कामनाओं को स्वच्छंद उड़ान भरने के लिए छोड़ दिया है।

'कामायनी' की देव जाति का अस्तित्व भी ऐसी ही विषय-वासनाओं और भोग-विलास के आधिक्य के कारण समाप्त हुआ था। मनुष्य के आदि पुरुष मनु की चिंता उचित ही तो है। आतंकवाद, युद्ध, उपनिवेशवाद, परमाणु और रासायनिक हथियारों का निर्माण तथा जमाव ये सब मनुष्य के अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख पायेंगे। अति भौतिकवादी चकाचौंध में मनुष्य संयम विस्मृत करता जा रहा है और 'अखण्ड आनन्द' के स्थान पर क्षणिक भोगवाद को प्राश्रय दे रहा है-इसे दूर करना होगा। प्रसाद के साहित्यिक लेखन में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जिस आनन्द की स्थापना की गई है- विश्व प्रेम, एकात्मवाद, मानवतावाद और समरसता के पर्यायों में उन सबका स्वरूप और संदेश एक ही है-सदभाव और शांति ।

संदर्भ :

1. जनमेजय का नाग यज्ञ जयशंकर प्रसाद, पृ. 97
2. चन्द्रगुप्त : जयशंकर प्रसाद, पृ. 164 2
3. प्रसाद के काव्य और नाटक दार्शनिक स्रोत, डॉ. सुरेन्द्रनाथ सिंह, पृ. 43
4. भगवान बुद्ध और उनका धर्म: डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन, पृ. 47

5. राज्यश्री जयशंकर प्रसाद, पृ. 62

6. वही: पृ. 65

7. विशाख: जयशंकर प्रसाद, पृ. 88

8. अजातशत्रु : जयशंकर प्रसाद, पृ. 130

9. प्रेमपयिक जयशंकर प्रसाद, पृ. 80

10. कामायनी जयशंकर प्रसाद, पृ. 33

11. प्रसाद के काव्य और नाटक दार्शनिक स्रोत, डॉ. सुरेन्द्रनाथ सिंह, पृ. 144

12. कानन कुसुम : जयशंकर प्रसाद, पृ. 6

13. कामायनी जयशंकर प्रसाद, पृ. 53

14. कामायनी के मूल्यांकन का प्रश्न: डॉ. नगेन्द्र, पृ. 48

15. कामायनी की टीका डॉ. तारकनाथ बाली, पृ. 6

16. कामायनी जयशंकर प्रसाद, पृ. 117

कुरुक्षेत्र : शांति पर्व की तलाश

विनाश की आतंकी छाया और विकास की आशा के बीच कहीं अस्तित्व है-शांति का, जिसकी प्रतिद्वंद्विता युद्ध से है। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' इन्हीं दो प्रतिगामी बिंदुओं के चिंतन और विश्लेषण की सार्थक उपलब्धि है। 'कुरुक्षेत्र' की मूल समस्या है-युद्ध और उसका समाधान है-शांति। युद्ध होने के मुख्य कारण क्या हैं? युद्ध मनुष्य-मनुष्य में होता है, उसे रोकेगा तो मनुष्य ही, फिर वह क्यों नहीं रोक पाता-युद्ध ? शांति स्थापना कब होगी और कैसे होगी? ये मूलभूत प्रश्न हैं, जो 'कुरुक्षेत्र' में युधिष्ठिर ने भीष्म के समक्ष खड़े किये हैं।

युद्ध की समस्या नई नहीं हैं। भारत-चीन, भारत-पाक, अरब-इजराइल, ईरान-ईराक जैसे अंतर्राष्ट्रीय युद्ध हों अथवा विगत में हुए दो-दो विश्व युद्ध हों अथवा अफगानिस्तान जैसा गृह-युद्ध हो। युद्ध की परंपरा मानव की चेतना से सम्पृक्त है। युद्ध वह करता है उसके परिणाम पर अशोक की भाँति दुःख प्रकट करता है और फिर पछताता भी है:

हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती-उबलते क्रोध से,

हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता क्या शस्त्र ही

उपचार एक अमोघ है-

नर का बहाया रक्त, हे भगवान! मैंने क्या किया?

लेकिन मनुज के प्राण शायद पत्थरों के हैं बने

इस देश का दुख भूलकर

होता समर आरुढ़ फिर,

फिर मरता मारता

विजय पाकर बहाता अश्रु है।

युद्ध के परिणाम पर युधिष्ठर की भाँति दुखी होता और तभी हो पाता है, जब व्यक्ति की चेतना सजग हो। परंतु एक प्रश्न और यहाँ उपस्थित होता है कि यदि

व्यक्ति की चेतना सजग और सावधान रहती है, तब फिर युद्ध की स्थिति ही क्यों निर्मित होगी? ऐसी स्थिति में तो शांति भंग नहीं होनी चाहिए। तब फिर शांति स्थापना कैसे हो? भीष्म पितामह इसका उपाय सुझाते हुए कहते हैं-जब तक न्यायोचित सुख-साधन प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ नहीं होते, तब तक धरती पर शांति की कल्पना करना व्यर्थ है:

न्यायोचित सुख सुलभ नहीं जब तक मानव-मानव को

चैन कहाँ धरती पर तब तक शांति कहाँ इस भव को ?

जब तक मनुज-मनुज का यह सुख-भाग नहीं कम होगा

शमित न होगा कोलाहल संघर्ष नहीं कम होगा।

'कुरुक्षेत्र' में शाति-स्थापना प्रसंग में कवि ने 'कृत्रिम शांति' की मौलिक कल्पना की है। यह कृत्रिम शांति क्या है? अशांति को जन्म देने वाला अन्यायी स्वयं को शांति तथा न्याय का रक्षक कहता है और अपने विरोधी को शांति भंग करने का आरोपी समझ उसे शांति व्यवस्था के नाम पर दण्डित करता है। कृत्रिम शांति का स्वरूप यही है :

कृत्रिम शांति सशंक आप

अपने से ही उरती है,

खड्ङ्ग छोड़ विश्वास किसी का

कभी हानी करती है।

और जिन्हें इस शांति व्यवस्था में

सुख भोग सुलभ है,

उनके लिए शांति ही जीवन

सार, सिद्धि दुर्लभ है।

यह कृत्रिम शांति परजीवी होती है जो असहायों के रक्त पर निर्भर होती है। यह पीड़ितों का शोषण कर अपने अस्तित्व को बचाकर रखती है :

पर, जिनकी अस्थियाँ चबाकर, शोणित पीकर तन का,

जीती है यह शांति, दाह समझो कुछ उसके दूत का।

कवि इसी कृत्रिम शांति का विरोधी है, उसी शांति के विरोध में वह क्रांति का आहान करता है और यहाँ उसके तेवर उग्र हो उठता है

न्यायोचित अधिकार माँगने

से न मिले, तो लड़के,

तेजस्वी छीनते, समर को

जीव या कि खुद मर के।

यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि जब 'कुरुक्षेत्र' की रचना हुई थी, उसके पूर्व तक का सारा इतिहास दिनकर के सन्मुख उपस्थित था। अंग्रेजों का दमन चक्र और उसमें फंसने-छुटती गाँधी जी की सत्य-अहिंसा की मनुहारें, दो-दो विश्व युद्ध, इनकी विभीषिकाग्नि में दहकता मानव का अस्तित्व और इस अस्तित्व को बचाये रखने का एक ईमानदार अंतर्राष्ट्रीय प्रयास 'लीग ऑफ नेशन्स' की स्थापना आदि। तमाम प्रयासों के बावजूद मनुष्य जाति के ऊपर मंडराता खतरा यथावत् है। जब तक चारों ओर व्याप्त छल-कपट और हिंसा का लेशमात्र भी शेष रहेगा, शांति की कल्पना दुःस्वप्न ही है।

मूल रहे थे धर्मराज, तुम

अभी हिंस्र भूतल है,

खड़ा चतुर्दिक अहंकार है,

खड़ा चतुर्दिक छल है।

किंतु हाय आधे-पथ तक ही

पहुँच सका यह जग है,

अभी शांति का स्वप्न दूर है,

नभ से करता जगमग है।

यहाँ एक प्रश्न फिर सहज ही उत्पन्न होता है कि हजारों वर्षों से शाति प्रयासों के उपरांत भी शांति की स्थापना क्यों नहीं हो पा रही है? भीष्म पितामह इसका उत्तर देते हुए युधिष्ठिर से कहते हैं कि पहले तो यह जानना अत्यंत जरूरी है कि शाति का उद्गम कहाँ से है। भीष्म पितामह कहते हैं कि शाति का जन्म स्थल मनुष्य का हृदय प्रदेश है। यह प्रदेश जब निस्पृह होगा तभी शांति वहाँ जन्म लेगी: शिव शांति की मूर्ति नहीं बनती कुलाल के गृह में, सदा जन्म लेती वह नर के मनः प्रांत निस्पृह में, गरल-द्रोह-विस्फोट हेतु का

करके सफल निवारण,

मनुज प्रकृति ही करती,

शीतल रूप शांति का धारण।

दिनकर की शांति की अवधारणा सार्वभौम है। एक-दो अथवा सौ पचास लोगों के हृदय शांत हो जाने मात्र से विश्व में शांति का साम्राज्य स्थापित नहीं हो जाता। शांति की बीन बजाने के लिए जन-जन के अंतर से उस संगीत के स्वर मुखरित न हों। यह संगीत बाह्यवरण नहीं है, छद्मावरण नहीं है। यह संगीत ऐसा दिव्य आलोक है जो जन-जन की आत्मा को प्रकाशित करता है। इसी प्रकाशन से आत्मा पुष्ट होती है और उसमें पावनता की प्रविष्टि होती है इस पावनता से ही हृदयों में शांति का श्रृंगार होता है, शांति स्थायी होती है :

शांति-बीन तब तक बजती है,

नहीं सुनिश्चित उर में।

स्वर की युद्ध प्रतिध्वनि जब तक

उठे नहीं उर-उर में।

यह बाह्य उपकरण, भार बन

जो आबे ऊपर से।

आत्मा की यह ज्योति, फूटती

सदा विमल अंतर से ।

शांति स्थापना के लिए जन-जन को 'न्यायोचित सुख' सुलभ कराया जाना अनिवार्य है, अर्थात् - समत्व के भाव की प्रतिष्ठा। समता से ही शांति का मैत्री भाव है। जब समाज में सच्ची शांति का सूर्य अपनी रश्मियाँ बिखेरता है तब कोई देश शंक-तिमिर से युक्त नहीं रहता। मनुष्य भयमुक्त हो अपना कार्य-व्यापार करता है, समष्टिगत सुख का समान वर्ण्य होता है वैदिक सूत्र 'सर्वे भवन्तु सुखिनाः' का साकार रूप पृथ्वी पर उपस्थित हो जाता है-ये लक्षण हैं शांति- 'सुशीतल शांति' के :

जब होती अवतीर्ण शांति यह

भय न शेष रह जाता।

शंका तिमिर-ग्रस्व फिर कोई।

नहीं देश रह जाता।

शांति ! सुशीतल शांति ! कहाँ

वह समता देने वाली ?

देखो आज विषमता की ही वह करती रखवाली

'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने युधिष्ठिर और भीष्म के चिंतन द्वारा शांति के संबंध में जो धारणाएँ व्यक्त की हैं उनमें मौलिक दृष्टि है-शांति के प्रकारों की। शांति के प्रकार दिनकर के अनुसार दो हैं-कृत्रिम शांति और सुशीतल शांति। यहाँ शीतल 'सु' उपसर्ग का अत्यंत सार्थक प्रयोग दिनकर जी ने किया है। शीतलता तृप्ति तो दे, पर सन्निपात का कारण भी न बने-यह है सुशीतल। इसी प्रकार एक ही शांति दूसरे की अशांति की प्रतिष्ठा की कामना करता है, यही उसका स्वप्न है, यही उसकी आकांक्षावादी ।

नागासाकी और हिरोशिमा पर हुए एटमी हमलों के हृदयविदारक दुष्परिणाम लोग अब तक भुगत रहे है। तब से आज तक विश्व में भारत सहित अनेक छोटे-बड़े देश परमाणु-परीक्षण कर चुके हैं, कर रहे हैं और करेंगे। यह सच है कि भारत हमलों में विश्वास नहीं करता वह शांति का प्रवल पक्षधर है। अमेरिका से एटमी करार होने पर अपनी नीति और अपने आश्वासन के आधार पर वह विकास के लिए ही इसका प्रयोग करेगा। परंतु यह भी सच है कि अकृत्रिम और सुशीतल शांति की स्थापना के लिए वह का पुरुष भी नहीं बनेगा।

शांति स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की बढ़ती हुई उद्दाम कामनाओं पर अंकुश लगाया जाये और निराशावाद को नष्ट किया जाये :

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,

एक दिन होगी मुक्त भूमि रण भीति से।

भावना मनु की-न राग में रहेगी लिप्त

सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।

हार से मनुष्य की न महिला छटेगी और

तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से

स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक

धरती मनुष्य की बनेगी स्वयं प्रीति से।

संस्कृति के चार अध्याय : बनावट और बुनावट

अपूर्व ग्रंथ है- 'संस्कृति के चार अध्याय'। साहित्य जगत में प्रायः दो प्रकार की रवनाएद्द होती हैं। एक जो लिखी जाती हैं सायास, दूसरी जो लिखी जाती हैं अनायास । 'संस्कृति के चार अध्याय' दूसरी कोटि की रचना है। मध्यकाल में जो साहित्य सृजित होता था, वह सप्रयास नहीं लिखा जाता था, स्वतःस्फूर्त होता था और जो रचना का समाज पर प्रभाव पड़ता है, ऐसी रचना पाठक को जो आनंद प्रदान करती है, वह अपूर्व होती है, अद्‌भुत होती है, अनुपम होती है। कबीर, सूर, तुलसी आदि की रचनाएँ ऐसी ही हैं। मेरी दृष्टि में दिनकर जी की 'संस्कृति के चार अध्याय' भी इसी वर्ग में परिगणित करने योग्य है। 'संस्कृति के चार अध्याय' भारतीय संस्कृति का महाकाव्य है।

अब तक भारतीयों को संस्कृति का एक ही पक्ष बताया जाता रहा है कि हमारी संस्कृति का मूल उद्गम वेद है, परन्तु यह सत्य नहीं है। फिर सत्य क्या है? इसका स्पष्टीकरण 'संस्कृति के चार अध्याय' में है। यह ग्रंथ जितना आत्मिक रूप से अपनी सौंदर्यात्मक सज्जा के कारण अभिभूत करता है, उतनी ही आकर्षक इसकी बनावट है। इसी आकर्षण का परिणाम है कि सन् 1956 मे यह कृति प्रथम संस्करण के रूप में प्रकाशित हुई। सितम्बर, 1962 में इसका द्वितीय संस्करण आया और तब से आज तक इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं, अनेक आवृत्तियाँ हो चुकी हैं और अनेक पुनरावृत्तियाँ हो चुकी हैं। यह व्यवहारिक तथ्य है कि कृतियों की लोकप्रियता को पुस्तकालयों की सरकारी खरीद के आँकड़ों से नहीं आँका जा सकता ।

यह अन्वेषण करना आवश्यक हो जाता है कि किसी रचना के पीछे कौन-सी प्रेरणा होती है। 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखने के पीछे दिनकर जी के क्या कारण थे? इस तथ्य को वे स्वयं उद्घाटित करते हैं- "एक समय मैं इतिहास का विद्यार्थी अवश्य था, किन्तु जब से कविता और चिंतन में लगा, तब से इतिहास से मेरा संपर्क एक प्रकार से छूट-सा गया। तब सन् 1950 में मैं छात्रों को साहित्य

पढ़ाने के लिए कॉलेज भेजा गया। वहाँ साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि समझने के क्रम में मुझे इतिहास की पुस्तकें फिर से उलटनी पड़ीं और धीरे-धीरे मैं फिर से इतिहास की गहराई में उतरने लगा। मेरी पहली जिज्ञासा यह थी कि हमारा आधुनिक साहित्य हमारे प्राचीन साहित्य से किन-किन बातों में भिन्न है और इस भिन्नता का कारण क्या है? कारण की खोज करता हुआ में ढूँढ़-दूँढ़ कर 19वीं सदी के सांस्कृतिक जागरण का हाल पढ़ने लगा। फिर जिज्ञासा कुछ और विस्तृत हो गयी और मन ने जानना चाहा कि भारतीय संस्कृति का संपूर्ण इतिहास कैसा रहा है?"1

यह भारतीय संस्कृति के संपूर्ण इतिहास को जानने की ललक थी जिसने 'संस्कृति के चार अध्याय' दिनकर जी से लिखवाए। उन्होंने इसे 'स्वान्तः सुखाय' की संज्ञा दी। इस 'स्वान्तः सुखाय' की अनुभूति का विस्तार स्वतः ही लोक तक हो गया। 'संस्कृति के चार अध्याय' के लेखक ने स्वान्तः सुखाय जैसी कोई उद्घोषणा तो नहीं की, परन्तु जिनके लिए कृति की रचना की, उसका तात्पर्य लोक से ही है-"लेकिन तमाम कोलाहल के बीच यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गयी है कि जिन लोगों के लिए यह पुस्तक लिखी गयी थी उन्हें यह खूब पसंद आयी है, नापसंद यह उन्हें हुई, जिनके लिए शायद यह है ही नहीं। खास दिलचस्पी की बात तो यह है कि सांस्कृतिक एकता की बातें जनसाधारण ही सुनना चाहता है। पंडित और विशेषज्ञ ऐसी बातों से बिदक जाते हैं।"2

उक्त उद्धरण में प्रयुक्त जनसाधारण स्पष्टतः लोक चेतना का संकेत करता है। यह लोक चेतना प्राकृतिक रूप से सीधी और सरल होती है। इनके पास न कोई छल होता है और न ही ये पूर्वाग्रह से गस्त होते हैं। दिनकर जी अपनी कल्पना और सत्य ऐसे पाठकों को ही सौंपते हैं- "जिन सीधे-सादे पाठकों के मन पर पूर्वाग्रहों की छाया नहीं है, उन्हें कल्पना की कृति सच्चाई का उससे ज्यादा हाल बताएगी, जितना इतिहास के प्रामाणिक ग्रंथों से जाना जा सकता है। प्रामाणिक ग्रंथों के तथ्य शायद ही कभी गलत पाये जायें, लेकिन उनका विवरण हमेशा गलत और निर्जीव होता है। "3

ग्रंथ के प्रथम संस्करण में ही ग्रंथकार ने इस बात के स्पष्ट संकेत दिये थे कि निर्द्धद्ध वर्ग द्वारा लिखित सामग्री का आश्रय तो लिया गया है, परन्तु कृति विद्वदजनों के लिए नहीं अपितु 'जनसाधारण' के लिए है- "यह पुस्तक विद्वानों की अंतर्दृष्टि चुनकर तैयार की गयी है, किन्तु इसे मैंने विद्वानों और विशेषज्ञों के पढ़ने के लिए नहीं लिखा है। असल में यह उनके काम की चीज है, जो खोजपूर्ण ग्रंथों का सामना नहीं करना चाहते, जो भारतीय संस्कृति को समझना तो चाहते हैं,

किन्तु जिनके पास सैकड़ों ग्रंथों के व्यूह में जाने का अवकाश नहीं है तथा जो अनुसंधान और खोज की नीरस भाषा से भी घबराते हैं। संक्षेप में इसके मुख्य पाठक जनसाधारण होंगे-ऐसी मेरी कामना है।"

बात जब जनसाधारण की आती है, तव भाषा महत्त्वपूर्ण हो जाती है। दिनकर जी अपनी कृति के मुख्य पाठक जनसाधारण को पहले ही लिखित आश्वासन दे चुके हैं- 'अनुसंधान और खोज की नीरस भाषा' से मत घबराना। यही कारण है कि लेखन ने इतिहास और संस्कृति जैसे संबंधों के समन्वित रूप को जनसाधारण के समक्ष उद्घाटित करने के लिए जनसाधारण की भाषा का आश्रय ग्रहण किया। जनसाधारण के लिए जनसाधारण की भाषा में क्लिष्ट मान्यताएँ भी कितनी सहज हो जाती हैं-"सारे भारत में कार्तिकेय की मूर्ति विजयादशमी के अवसर पर दुर्गा के साथ बनायी जाती है और गणेश अक्सर शुभ और लाभ के बीच दुकानों पर विराजा करते हैं। लेकिन दक्षिण के मंदिरों में दोनों भाइयों की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ देखने में आती हैं, जिनकी बनावट से वीरता टपकी पड़ती है।"

"आज भी बहुत से गाँवों में ऐसे ग्राम देवों की मिट्टी या लकड़ी की मूर्तियाँ दीख पड़ती हैं। प्रायः सभी क्रूरकर्मा होते हैं। भांति-भांति की पूजा करके इनको शांत किया जाता है। अपने अनार्य पड़ोसियों से आर्यों ने नाग, गधे पर सवार होने वाली सीतला और कुत्ते पर चढ़ने वाले भैरव के साथ मूषक वाहन, हरिनमुख विनायक को भी लिया। विनायक विघ्नकर्ता थे, अच्छे कामों में भी बाधा डालते थे। इसलिए प्रत्येक शुभ कर्म के आरंभ में उनको मनाना पड़ता था। जब आर्यों ने उन्हें ग्रहण किया, उनका रूप बदलने लगा और वे विघ्नेश से विघ्नहर बन गये। जब देव हो गये तब उनकी पूजा की पद्धति भी बनी, ढूँढ़ ढूँढ़कर दो-एक वेद-मंत्र भी उनको दिये गये और उनके नाम पर उपनिषद् की भी रचना की गयी।"5

उक्त उद्धरणों में प्रयुक्त 'दुकानों पर विराजा करते हैं', 'ढूँढ-ढूँढ़कर दो-एक वेद-मंत्र भी उनको दिये गये' जैसे शब्द और वाक्य रचना में लोक की प्रकृति, सहजता और लालित्य हैं जो पाठक को अपने आकर्षण में आबद्ध करते हैं।

दिनकर जी का मूल व्यक्तित्व साहित्यकार का था- "मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एवं मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर ही निर्भर करता है। यही कारण है कि वे प्रस्तुत कृति को भी साहित्य के अंतर्गत ही परिगणित करते हैं-"इस पुस्तक को मैं इतिहास नहीं, साहित्य का ग्रंथ कहता हूँ।" और जब साहित्य का ग्रंथ है-परन्तु न तो बोझिल है और न ही अति बौद्धिकता का पहाड़-सा भार भाषा पर है। इतना ही नहीं, न मुहावरेदार भाषा का आग्रह है और न ही आलंकारिक कला का बिल्कुल सहज भाषा फिर भी

मनमोहक ऐसी कि एक पैराग्राफ के पश्चात् आगे लगातार पढ़ते जाने को जी चाहे और सच तो यह है कि पुस्तक को पढ़ते समय लगता ही नहीं है कि इतिहास पढ़ा जा रहा है। लगता है, जैसे ऐतिहासिक कहानियों का संग्रह पढ़ रहे हों अथवा किसी ऐतिहासिक उपन्यास की घटनाओं के मध्य विचरण कर रहे हों।

बनावट की भांति 'संस्कृति के चार अध्याय' की मनोरम बुनावट है। भारतीय संस्कृति का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है, जो अनछुआ रहा हो। अपने विशिष्ट पाठकों, जनसाधारण को संस्कृति की व्यापकता से दिनकर जी ने अवगत कराया। इतिहास और संस्कृति का जो स्वरूप शास्त्रीय भाषा की कारा में कैद था, उसे दिनकर जी ने मुक्त किया।

सामान्य पाठकों को इतिहास और संस्कृति से परिचित कराना ही 'संस्कृति के चार अध्याय' का उद्देश्य नहीं है। इससे भी बढ़कर ग्रंथ की उपादेयता है-भारतीय जीवन में सामाजिक समरसता की स्थापना का प्रयास करना। दिनकर जी का मत है कि- "भारत की संस्कृति आरंभ से ही सामासिक रही है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम देश में जहाँ भी जो हिन्दू बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है और भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी इसी सामासिक संस्कृति की विशेषता है। तब हिन्दू एवं मुसलमान हैं जो देखने में अब भी दो लगते हैं, किन्तु उनके बीच भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है, जो अपनी भिन्नता को कम करती है। दुर्भाग्य की बात है कि हम इस एकता को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहे हैं। यह कार्य राजनीतिक नहीं, शिक्षा और साहित्य के द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। इस दिशा में साहित्य के भीतर कितने ही छोटे-बड़े प्रयत्न हो चुके हैं। वर्तमान पुस्तक भी उसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।"

यह सत्य है कि हमने सांस्कृतिक एकता के मर्म में पैठने का प्रयास नहीं किया। यदि किया होता तो आज साम्प्रदायिक समस्या देश में सिर न उठा पाती। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इस सत्य को बहुत पहले जान लिया था और अपने उस सत्य को 'संस्कृति के चार अध्याय' में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था। 'दिनकर' जी लिखते हैं- "स्वतंत्रता संघर्ष के क्रम में भारत के भीतर सामाजिक और राजनैतिक तनाव इस कदर बढ़ गया कि उसके कारण भारत का विभाजन करना पड़ा। किन्तु विभाजन के बाद भी हिन्दू मुस्लिम समस्या मौजूद है। इस समस्या का समाधान कैसे निकलेगा? यह बताना आसान नहीं है। कबीर, अकबर और गाँधी जी का हाल हम देख चुके हैं। आज इस समस्या पर सबसे अधिक ध्यान पं. जवाहर लाल नेहरू का है। अकबर ने मुस्लिम आतंक से पीड़ित हिन्दुओं का पक्ष जिस वीरता से लिया था, जवाहर लाल जी उसी वीरता के साथ मुसलमानों का पक्ष

ले रहे हैं। किन्तु अकबर की उदारता से जैसे मुसलमान चिढ़ उठे थे वैसे ही पडित जी की उदारता बहुत से हिन्दुओं की दृष्टि में गलत समझी जा रही है। इतिहास से शिक्षा लेने को न तो हिन्दू तैयार हैं, न मुसलमान। दोनों के दोनों भली-भांति जानते हैं कि भारत छोड़कर उनकी और कोई गति नहीं है। दोनों के दोनों यह भी जानते हैं कि एकता को सुदृढ़ किये बिना वे शांति और निश्चिंतता की जिंदगी नहीं बिता सकते। फिर भी एकता की कीमत चुकाने को कोई भी तैयार नहीं है।

पुस्तक में हिन्दू-मुस्लिम समस्या के लिए दोनों सम्प्रदाय के लोगों को दोषी ठहराते हुए दिनकर जी ने अपने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं कि यह समस्या सरकारें नहीं सुलझा सकतीं क्योंकि इसका संबंध भावनाओं से है और भावनाओं को मोड़ने का काम संतों, मुसलमानों व रचनाधर्मियों का है- "सरकारों का मुख्य काम वर्तमान को संभालना है। उनकी पहली जिम्मेदारी अमन और शांति की है और समाज में शांति रखने का काम वे कर भी रही हैं, किन्तु हिन्दू-मुसलमान समस्या का समाधान केवल शांति की व्यवस्था से नहीं पाया जा सकता। असल में नाव वहाँ जाकर अटक गयी है, सरकारों की बाँहें वहाँ तक पहुँच नहीं सकतीं। वहाँ केवल वे लोग जा सकते हैं, जो संत और सुधी हैं, विचारक और कलाकार हैं। जो लोग जनता की भावनाओं को मोड़ने का काम करते हैं, जो लोग जनता में नया विश्वास और नई प्रेरणाएँ जगा सकते हैं, वे यदि इस महान कार्य में हाथ बढ़ाएँ तो कई पीढ़ियों तक काम करने के बाद वह चट्टान तोड़ी जा सकती है, जो एकता की धारा को आज रोके हुए हैं।"10

हिन्दी हमारी राजभाषा है जो दुर्भाग्यवश आज भी राष्ट्रभाषा नहीं है। हिन्दी के विकास के अभाव में हमारी राष्ट्रीय अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। दिनकर जी हिन्दी के प्रश्न पर भी चिंता व्यक्त करते हैं- "पिछले सौ वर्षों से हम यह सोचते आ रहे थे कि जब भारत स्वाधीन होगा, हम भारत की ही किसी भाषा को अपनी अंतर्प्रान्तीय भाषा बनाएँगे। यह भाषा भारत की एकता को पुष्ट बनाएगी, क्योंकि अंग्रेजी सीखने की अपेक्षा किसी भारतीय भाषा का सीखना अधिक सुगम कार्य होगा। हर प्रांत अपनी भाषा में चलेगा और सभी प्रांतों के आपसी व्यवहार की भाषा हिन्दी होगी। इसी हिन्दी के जरिए हम अधिक भारतीय नेता तैयार करेंगे और इसी हिन्दी के जरिए हमारा राष्ट्रीय मंच भी विस्तृत होगा। किन्तु अब सन् 1962 ई. में आकर देश अलसा रहा है और लोग यह सोचने लगे हैं कि अंग्रेजी ही भली है, क्योंकि वह तटस्थ भाषा है।

तटस्थ होने पर भी अंग्रेजी भली नहीं हो सकती। मुख्य कारण यह है कि हिन्दी सिखाने की कोशिश बहुत कम की गयी और अब देश को आलस्य पकड़

रहा है। आलस्य पहले आया और देश ने अंग्रेजी की तटस्थता का बहाना बाद में पकड़ा है। किन्तु यह तो है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित नहीं करके हम संसार के सामने यह बात स्वीकार कर रहे हैं कि हमारा राष्ट्रीय जोश ठंडा हो रहा है और राष्ट्रीयता की गर्मी घटी तो राष्ट्रीय एकता की शक्ति आप से आप क्षीण होगी। हिन्दी वह बैरोमीटर है, जिसमें हम अपनी राष्ट्रीय भावना का उतार और चढ़ाव प्रत्यक्ष देख सकते हैं।"

विज्ञान के प्रसार ने मनुष्य को सुख-सुविधाएँ इतनी परोसी हैं कि वह उनका दास बन गया है। यही दासता उसके विनाश का एक दिन कारण बनेगी। वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण और अत्याधुनिक टेक्नोलॉजी की चंडाल चौकड़ी मानव मूल्यों को आज जिस प्रकार लीलती जा रही है, दिनकर जी ने उस खतरे को पहले ही भांप लिया था। उसके प्रभावों और उनसे बचने के उपायों द्वारा ग्रंथ का समापन करते हुए वे लिखते हैं-

"जरूरत की सारी चीजें मनुष्य को तुरंत चाहिए, लेकिन फालतू जरूरत या जरूरत से फाजिल चीजें उसे एकदम नहीं चाहिए। भारत के प्राचीन ज्ञान और पश्चिम की नवीन संस्कृति के समन्वय की कीमत वही समाज दे सकता है जो विलास से बचने के लिए स्वेच्छया अमीरी का त्याग कर सकता हो। व्यापार पर पहरा देने के लिए सारी रात टेलीफोन सुनने वाला सेठ, धन संचय की चिंता में खाद्य सामग्रियों और खाद्यों में मिलावट करने वाला सौदागर, अनावश्यक चिंताओं और व्यर्थ की दौड़-धूप से थके शरीर को शराब से सींचने वाला अमीर और हर औरत से मुहब्बत बढ़ाने की लालसा से पागल बूढ़ा या नौजवान सब के सब उस सभ्यता के स्वाभाविक परिणाम हैं, जो विज्ञान की सहायता से उत्पन्न हुई हैं। विज्ञान को अंगीकार करके भी भारत अगर इन दोषों से बचना चाहता है, तो उसका सबसे बड़ा उपाय यह है कि वह अपना ध्यान उचित प्रकार की निर्धनता पर केन्द्रित करे ।.... विज्ञान भी हमारे वश में तभी रहेगा, जब जब यह मानकर चलें कि विज्ञान से हमें अपनी वाजिब जरूरतों की पूर्ति में सहायता लेनी है। "12

यहाँ उचित प्रकार की निर्धनता और विज्ञान से वाजिब जरूरतें अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों मूल मंत्रों के द्वारा भारत अपनी वर्तमान समस्याओं से लड़ सकता है और विजय प्राप्त कर सकता है। 'संस्कृति के चार अध्याय' भारतीय संस्कृति और इतिहास को जानने का स्वच्छ दर्पण है। मेरा मानना है-सौ-पचास वर्षों में ऐसा ग्रंथ और ग्रंथकार निर्मित होता है। पाँच वर्ष के अथक श्रम का परिणाम है- 'संस्कृति के चार अध्याय' । अशुद्धिरहित तथा विरामचिह्नों तक पर भी ध्यान केन्द्रित करने वाले इस ग्रंथ में भारतीय जीवन का सौंदर्य है और उस सौंदर्य का स्पंदन भी।

संदर्भ :

1. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ. 13

2. वही, पृ. 10

3. वही, पृ. 11

4. वही, पृ. 14

5. वही, पृ. 63

6. यही, पृ. 14

7. वही, पृ. 14

8. वही, पृ. 14

9. वही, पृ. 628

10. वही, पृ. 629

11. वही, पृ. 631

12. वही, पृ. 636

नई कविता के शिखर : मुक्तिबोध

हिन्दी कविता में प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता को एक साथ जीने वाले विद्रोही कवि गजानन माधव मुक्तिबोध के काव्य में जीवन-संघर्ष की यथार्थ अभिव्यक्ति है। सन् 1943 में अज्ञेय द्वारा संपादित 'तारसप्तक' में एक कवि के रूप में मुक्तिबोध ने हिन्दी प्रेमियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। मुक्तिबोध विद्रोही इसीलिए कि उन्होंने प्रयोगवाद में स्थापित प्रतीकों को भी अग्राह्य कर दिया और ऐसे बिंब-विधान को अंगीकार किया जो हिन्दी काव्य के लिए सर्वथा मौलिक था। यद्यपि विद्वानों ने इस प्रयोग को कुत्सित कुरुपता की संज्ञा से अभिहित किया है तथापि इससे वे महत्त्वहीन नहीं हो जाते। मुक्तिबोध की विचारधारा मार्क्सवादी है। इसी विचारधारा को वे आजीवन समर्पित रहे- अभावों से जूझते, सतत् संघर्ष करते। मुक्तिबोध प्रयोगवादी हैं, प्रगतिवादी हैं, प्रतीकवादी हैं, मार्क्सवादी हैं और नई कविता के शिखर पुरुष हैं। पर इन सबसे भी उच्चतम शिखर पर उनका मानववाद प्रतिष्ठित है। मुक्तिबोध की कविता व्यक्ति की आत्मा के इतिहास के साथ-साथ मानव सभ्यता के इतिहास की प्रस्तुति है।

पूर्व में कथन किया गया है कि मुक्तिबोध विद्रोही कवि थे। वस्तुतः विद्रोह मानवीय प्रवृत्ति है। विद्रोह की धारणा हृदय में पालकर नव-संसार निर्माण के स्वप्नों को पोषित करना मानवीय शक्ति है। कवि की कल्पना नव-सृजन का स्वप्न ही है जिसके लिए वह सब कुछ दाव पर लगा देता है। मुक्तिबोध ने अपना सर्वस्व दाव पर लगा दिया और आज वे नई कविता के शीर्ष पर अवस्थित हैं। जिस संदर्भ में नई कविता का आज प्रयोग होता है, वह सर्वथा नया ही है। भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद, प्रगतिवाद आदि तो अब 'नई कविता' की पृष्ठभूमि बनकर रह गये हैं। सन् 1943 में अज्ञेय ने प्रथम 'तारसप्तक' का प्रकाशन अपने सम्पादकत्व में किया, जिसमें अज्ञेय और मुक्तिबोध सहित सात कवि शामिल थे। 1953 में दूसरे 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ जिसमें सात अन्य नये कवि शामिल

थे। प्रथम 'तारसप्तक' से हिन्दी में प्रयोगवाद का प्रारंभ माना जाता है। प्रयोगवाद से कुछ हटकर नया दिखने के लिए सन् 1954 में डॉ. जगदीश गुप्त और श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादन में 'नई कविता' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। तब से इस नई काव्य-धारा को 'नई कविता' कहा गया।

इलाहाबाद से प्रकाशित इस पत्रिका के अंक में डॉ. जगदीश गुप्त ने आज की कविता को खड़ीबोली की एक नई भोंगमा बताते हुए लिखा है कि-'मेरे विचार से जहाँ तक खड़ीबोली का प्रश्न है, उसे नई कविता के द्वारा एक नई भगिमा प्राप्त हुई है। यह भंगिमा इसीलिए भी संभव हो सकी कि नई कविता की प्रकृति से उसका गहरा आंतरिक सामंजस्य है। नई कविता भावना को बिना किसी आडम्बर के सीधे शुद्ध रूप में व्यक्त करने का आग्रह करती है। कथन की यह सिघाई एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक निश्चयात्मकता और दृढ़ता से उत्पन्न होती है, जो नई कविता के भाव-बोध में यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होती है।" उक्त पत्रिका से प्रारंभ हुआ नई कविता आंदोलन कालांतर में समग्र नवीन कविता को नई कविता के अंतर्गत समेट लाया। सन् 1959 में तीसरे 'तारसप्तक' में प्रयोगवादी काव्यधारा के लिए नई कविता नाम स्वीकार कर लिया गया। सारांशतः कथन किया जा सकता है कि अज्ञेय द्वारा प्रवर्तित प्रयोगवाद (जिसका बाद में तीसरे 'तारसप्तक' में अज्ञेय द्वारा प्रतिवाद किया गया) से प्रारंभ हुई विभिन्न वादों की विचार-सारणियों और शिल्प को समेटती हुई कविता- 'नई कविता' है।

13 नवम्बर, 1917 को मध्य प्रदेश के श्योपुर में जन्मे और सन् 1964 में अपनी संघर्षशील जीवन-लीला समाप्त करने वाले मुक्तिबोध का समूचा जीवन ही कुल 47 वर्षों का रहा। 26 वर्षीय वय में इन्हें प्रथम 'तारसप्तक' में अवसर प्राप्त हुआ और प्रथम 'तारसप्तक' में इनकी 17 कविताएँ संकलित हुईं। इनकी प्रमुख कविताओं में - 'दिमागी गुहांधकार का औरांग उटांग', 'ब्रह्मराक्षस', 'भूल-गलती', 'अंधेरे में' आदि हैं। 1964 में इनका कविता संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा' प्रकाशित हुआ। मुक्तिबोध के समकालीन रचनाकारों में अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द जैन, भारतभूषण अग्रवाल, रामविलास शर्मा, भवानी प्रसाद मिश्र, शकुंतला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, विजयदेव नारायण साही, राजकुमार कुम्भज' आदि प्रमुख हैं, पर जितना तीव्र काव्य स्वर मुक्तिबोध का है, उतना अन्य किसी का नहीं।

सत्य तो यह है कि मुक्तिबोध समूची नई कविता के सर्वाधिक सजग, चैतन्य और भ्रम से मुक्त कवि रहे हैं। डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं- 'मुक्तिबोध के कृतित्व

का महत्त्व इसी भ्रम मुक्ति में है, जैसा कि बाद के पुनराविष्कार से प्रमाणित हुआ, मुक्तिबोध भ्रम के इस लम्बे दौर में सतत् जाग्रत रहे।" मुक्तिबोध की कविता विविध आयामी है। इनके काव्य के विषय अनेक हैं। उन्होंने स्वयं ही अपने काव्य के बारे में लिखा है- 'मेरे बाल मन की पहली भूख सौंदर्य और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुख, इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी। इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से नहीं मिला। परिणाम था कि इन अनेक द्वंद्वों के कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका।" पर कथ्य की दृष्टि से उससे हटकर भी है। नई कविता की जो प्रवृत्तियों हैं, उनसे मुक्तिबोध का काव्य अछूता नहीं है। पूर्व में कथन किया जा चुका है कि मुक्तिबोध मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित थे और उनका काव्य इसी विचारधारा से अनुप्राणित है। उनके काव्य-विषय भले ही भिन्न रहे हों, पर उनके मूल में उनका मार्क्सवादी चिंतन ही व्यजित होता है।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, डॉ. इन्द्रनाथ मदान को उद्धृत करते हुए लिखते हैं- 'इनकी विचारधारा टॉलस्टाय, वर्गसा और मार्क्सवाद से प्रभावित है। उन्होंने क्षणभंगुरता के स्थान पर जीवन की गतिशीलता में, निराशा के स्थान पर आस्था में और व्यष्टि-चेतना की अपेक्षा समष्टि-चेतना में विश्वास प्रकट किया है। 'पूंजीवादी समाज के प्रति' कविता में उन्होंने पूँजीवाद के प्रति अपना तीव्र आक्रोश व्यक्त करते हुए लिखा है

इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द

जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बन्ध

तेरी रेशमी वह शब्द-संस्कृति अंघ

देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध

तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध

तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र

तुझको देख तितली उमड़ आती शीघ्र ।

यद्यपि यहाँ कवि का स्वर अनपेक्षित रूप से कटु हो गया है, किंतु उसके पीछे अनुभूतियों की तीव्रता एवं लक्ष्य की व्यापकता होने के कारण यह अप्रिय प्रतीत नहीं होता।" नई कविता में भाव-बोध और उसकी तीव्राभिव्यंजना के लिए जहाँ मुक्तिबोध के समकालीन कवियों ने विविध नूतन प्रयोग किये हैं, वहीं मुक्तिबोध ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए फैंटेसी को चुना है। यही शैली मुक्तिबोध की कविता को दूसरों की कविता से पृथक् पहचान देती है।

डॉ. जयकिशन प्रसाद लिखते हैं- 'मुक्तिबोध के काव्य में संक्रांति के बिन्दु पर

खड़े मानव का द्वंद्व उभरकर आया है। वे जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए दुरूह शब्दावली प्रयुक्त करते हैं, नवीन शब्दावली खोजकर लाते हैं। उनके मस्तिष्क में शतशः कल्पनाएँ अंकुरित हो विशाल वट वृक्ष का रूप धारण कर लेती हैं। वे फेटेसी के द्वारा अपनी जटिल अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। वे प्रकृक्ति के रूढ़िगत रूप के स्थान पर नये आरोपण करते जटिल संवेदनाओं को रूपायित करते हैं।' इसी क्रम में डॉ. भगीरथ मिश्र को उद्धृत करना भी समीचीन होगा। डॉ. मिश्र लिखते हैं - 'कवि ने आस्यहीन समाज और संस्कृति की हलासोन्मुखता का आभास पाकर ही ययार्य जीवन की अभिव्यक्ति में कवि कर्म का उत्तरदायित्व निभाना श्रेयस्कर समझा है। मानव-भविष्य के लिए चिंतित विचारक और कवि मुक्तिबोध कुरुपता और सुन्दरता के चित्रण में किसी प्रकार अंतर नहीं करते। उनकी दृष्टि, विश्व कवि की चेतना को समाहित किये हुए है अतः वे कभी भी समकालीन संदभों से कटे नहीं हैं। उनके आशावाद में नये संकल्प, नये निर्माण और नई सभ्यता के स्वर हैं।'"

किसी कवि के भावलोक का अवतरण उसकी कलात्मक भाषा के द्वारा ही होता है। मुक्तिबोध की कविता की सबसे बड़ी कलात्मक विशेषता यही है कि वह कल्पना के आश्रय के द्वारा सत्य का अनुसंधान करती है। कवि का काव्य 'हॉरर' विंवों से निर्मित है-एक भय और भ्रम का जाल-सा बुन देती है इनकी कविताएँ। पर इस भय और भ्रम से निर्मित जाल को काटकर कवि का परम सत्य बाहर आता है। फेंटेंसी के प्रयोग की कुछ पंक्तियाँ, जो मात्र वातावरण का निर्माण करती हैं, सत्य तो तब बाहर आता है, जब लम्बी कविता समापन की ओर अग्रसर होती है:

शहर के उस ओर खण्डहर की तरफ
परित्यक्त सूनी बावड़ी
के भीतरी
ठंडे अँधेरे में वसीं गहराइयाँ जल की.....
सीढ़ियाँ डूबी अनेकों उस पुराने घिरे पानी में.....
समझ में आ न सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो।
बावड़ी के घेर
डालें खूब उलझी हैं,

खड़े हैं मौन औदुम्बर।

व शाखों पर

लटकते घुग्घुओं के घोंसले

परित्यक्त, भूरे, गोल।"

नई भाषा, नये मुहावरे और नई धार की शब्दावली को लेकर मुक्तिबोध ने अपने काव्य-जगत को आकार दिया है। इनकी कविता की भाषा भावों का सहज स्पन्दन है। मुक्तिबोध की कविता बुद्धि और विज्ञान के समावेश से सत्य से साक्षात्कार करने का संकल्प लेकर चलती है। इनकी कविताओं की प्रमुख प्रवृत्तियों के रूप में विरोध, विद्रोह और व्यंग्य है। विद्रुपता को सुरूप देने का प्रयास है। वेदना और संत्रास से मुक्ति के लिए छाटपटाहट है और आम आदमी को प्रतिष्ठापित करने की तड़प है। नई कविता की अति बौद्धिकता तथा दुरूहता इनके काव्य में है, पर यह कवि की दुर्बलता नहीं, पाठकीय शिथिलता और दुर्बलता है।

अंततः डॉ. शिवकुमार शर्मा के शब्दों में 'काव्य सृजन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वदा प्रगतिशील रहा है। अतः इन्हें आधुनिक हिन्दी कविता के बाद के किसी संकरे कटघरे में सीमित करना उचित नहीं। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में स्व. मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएँ संकलित हैं, अतः ये मुक्तिबोध के काव्य-बोध के लिए पर्याप्त उपादेय हैं। इन कविताओं में पर्याप्त विषय वैविध्य है। कवि के लिए कवि कर्म श्रमसाध्य एवं मस्तिष्क की क्षमताओं का बल प्रयोग है। स्वभावतः इनकी कविताओं में बुद्धिजन्य प्रतीक विधान पर्याप्त मात्रा में है। इनकी कविताओं से स्पष्ट है कि वे सच्चे अर्थों में एक अनुभूतिशील कवि थे।'

संदर्भ :

1. नई कविता: डॉ. जगदीश गुप्त, पृ. 13
2. नई कविता: उद्भव और विकास डॉ. राभवचन राय, पृ. 155
3. तीसरा तारसप्तक सं. अज्ञेय, पृ. 11
4. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (द्वितीय खण्ड) डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ.148
5. कविता के नये प्रतिमान डॉ. नामवर सिंह, पृ. 97
6. प्रथम तारसप्तक सं. अज्ञेय, पृ. 41
7. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (द्वितीय खंड) डॉ. गणपति चंद्रगुप्त, पृ.180
8. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ डॉ. जयकिशन प्रसाद, पृ.613
9. आधुनिक हिन्दी काव्य डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 512
10. चाँद का मुँह टेढ़ा है: मुक्तिबोध, पृ. 37
11. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियों डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 525

सांस्कृतिक प्रतिमान : कविता के संदर्भ में

संस्कृति का दायरा अत्यंत व्यापक है। इसमें आचार-विचार, कला, घर्म, दर्शन, परंपराएँ, प्रथाएँ आदि सब का समावेश है। संस्कृति जीवन के आधारभूत मूल्यों की दृष्टि है। यह दृष्टि जीवन को अभ्यांतरिक अर्थ प्रदान करती है। परिवर्तन प्रकृक्ति के कण-कण में होता है, संस्कृति भी परिवर्तित होती है। आज के दौर में वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण, बाजारवाद जैसे शब्द और उनके स्वरूप का प्रभाव संस्कृति पर सर्वाधिक और गहराई से पड़ा है। साहित्य सृजन के विविध आयाम इसे ग्रहण कर रहे हैं। कविता पर इसका क्या और कितना प्रभाव पड़ा है, इसका आकलन किया जाना आवश्यक है। हिन्दी कविता की सांस्कृतिक प्रकृति तो रीतिकाल के अवसान के साथ ही बदल गयी थी। तब से अब तक की यात्रा में कविता ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। इसके उपरांत भी कविता थकी नहीं है न थमी है। हाँ, इतना अवश्य हुआ है कि वैश्वीकरण के प्रभाव से इसका स्वरूप परिवर्तित हुआ है।

वैश्वीकरण की भावना भारतीय कविता के लिए नई नहीं है। यह तो यहाँ की संस्कृति में रची-बसी है। संस्कृत का कवि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का उद्घोष करता है, हिन्दी कवि 'सिय राम मय' जानकर सम्पूर्ण जगत् को दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता है तथा 'न काहू से दोस्ती न काहू से बैर' की निस्पृह भावना से सबकी खैर माँगता है और लोक कवि 'सबै भूमि गोपाल की' के रंग अपने लोकगीतों में भरता है। फिर अंतर कहाँ है? वैश्वीकरण की भावना तो भारतीय साहित्य की आत्मा है और इसी भावना से ओत-प्रोत है भारतीय संस्कृति। पर भारतीय चिंतनधारा के वैश्वीकरण और अब के वैश्वीकरण में अंतर है। भारतीय सांस्कृतिक प्रतिमानों के अनुरूप उस कविता के वैश्वीकरण की भावना में विश्व बंधुत्व और विश्व प्रेम सन्निहित था। आज की कविता मुखौटेदार है। मुखौटों के नीचे बाजारवाद की पर्त जमी है। वस्तुतः यह समय कविता का संक्रमण काल है। पूर्णचन्द्र रथ के शब्दों में-'आज की कविता के सम्मुख संक्रमण का आधार भिन्न

है। देश का मानस, जातीय संस्कृति के उन्मादपूर्ण व्यवहार, व्यक्तिगत स्वार्थ के चलते निजी महत्त्वाकांक्षा के इकाईगत आचरण, विश्व बाजार आर्थिक उदारीकरण से मनुष्य के जिन्स में बदल जाने का त्रासद स्थितियाँ - जैसे कारण शब्द को उसकी भाव संस्कृति की अनेकर्थी अंगिमाओं से रिड्यूस कर एकांगी बना रहे हों तो रचना कर्म से जुड़े लोगों को, अपनी अभिव्यक्तियों को सम्प्रेषित करने में मुश्किलें तो आनी ही हैं।"

निश्चित ही आज की कविता में ये मुश्किलें विद्यमान हैं। ये मुश्किलें तब और अधिक बड़ी हो जाती हैं, जब अभिव्यक्ति दो राहे पर खड़ी हो। आज भारतीय मध्यमवर्गीय और निम्नवर्गीय परिवारों पर बाजारवाद के लगातार हमले हो रहे हैं। इन हमलों से आम आदमी त्रस्त है। उसकी पीड़ा, क्षोभ और घुटन आज की कविता में उभर रही है। उदय प्रकाश ने 'घर और शहर' नामक कविता में इसी संत्रास को अभिव्यकित दी है :

अपनी भाषा और अपने भूगोल दोनों से

बेदखल होते एक आत्मकेन्द्रित मनुष्य का

साधारण सा प्रयत्न है यह

उस मूलभूत नागरिक अधिकार को हासिल करने की

साधारण सी संवैधानिक कोशिश

जिसकी तुलना न सन् अठारह सौ सत्तावन से

की जा सकती है।

न सन् पैंतालिस-सैंतालिस से न सन् सरसठ से

लेकिन आज सन् दो हजार सात में

अपने गाँव, अपने शहर, अपने घर और अपनी भाषा में रहने की

कोई भी ईमानदारी संवैधानिक जिद

इतिहास की किसी बड़ी लड़ाई और क्रांति से कम कठिन नहीं।

ये जो अपनी भाषा अपने भूगोल दोनों से बेदखल होने की आम आदमी की व्यथा है, इनमें बने रहने की जिद की कठिनाई है, इसका नियन्ता कौन है? ये परिस्थितियाँ किसने निर्मित कीं? इनके उत्तरों के चिह्न स्वतः ही वैश्वीकरण की विभीषिका से उत्पन्न प्रभाव की ओर संकेतिक हो उठते हैं। वैश्वीकरण का जो सबसे खतरनाक प्रभाव पड़ा है वह यह, कि आदमी की चेतना धुंधली हो गयी है, वह स्वार्थी और आत्म केन्द्रित हो गया है, यहाँ तक कि उसकी संवेदनाएँ भी लुप्त हो गयी हैं। मंगलेश डबराल की 'आश्चर्य' नाम कविता आज की स्थिति को

स्पष्टतः बयान कर रही है:

परेशान एक आदमी आएगा हाँफता हुआ
मुझे लू लग गई जी
मेरे पूरे परिवार को
गर्मी में भटकने की बजाय
आप क्यों नहीं
आराम करते घर में
कहकर मैं चुप लगा लूँगा
ऐनक ठीक करता हुआ हो जाऊँगा व्यस्त
तभी आएगा एक नाराज आदमी
हद हो गयी अब नहीं होता बर्दाश्त
देखिए शहर में खुले आम घूमते हैं हत्यारे
थोड़ा मुस्कुराते हुए मैं कहूँगा भाई
अच्छे खासे तुम क्यों चले आये इस शहर
तुम जैसों के रहने की ही नहीं है यह जगह।

आज के समय की पीड़ा को अशोक सिंह की प्रस्तुत कविता 'हमें कुछ करना चाहिए' अत्यन्त सशक्त रूप में अभिव्यक्ति देती है और कुछ करने का आह्वान करती है :

बढ़ते जा रहे हैं शहर में लोग
और घट रहा है उनमें संवाद
सिकुड़ता जा रहा है आदमी
बढ़ती जा रही हैं दूरियाँ घरों के बीच
एक ऐसे खतरनाक समय में
जब सबके सब भागे जा रहे हैं
बेखबर बदहवास..... हमें कुछ करना चाहिए।

हिन्दी में आज जो कविता लिखी जा रही है, वह वैश्विक गतिविधियों से अप्रभावित नहीं है, हो भी नहीं सकती। अपने परिवेश से कविता कट कैसे सकती है? पहले भारतीय कविता का पोषक रस भारतीय परिवेश था, भारतीय संस्कृति थी। आज की कविता में उसके बदले हुए प्रतिमान स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तर पर ये परिवर्तन परिलक्षित हो रहे हैं। वैश्विक

संस्कृति से साक्षात्कार करना तो ठीक है, पर घरेलू संस्कृति का स्वामित्व उसे सौंप देना बिडम्बना ही है। कवि मुसाफिर बैठा की प्रस्तुत कविता 'मेरी देह बीमार मानस का गेह है' का संकेत इसी ओर है:

मेरे आँख-कान विकलांग से हो चले हैं
इस विकलांग विचार के दौर में
मेरी श्रवण-शक्ति का चिर लोप हो
गया है शायद
मेरे कान और मेरी आँखें
गोपन गोलबंदियों-विमर्शों का
न चाहकर भी आयोजन-प्रयोजन विलोकन को
विवश हैं क्या हमारा साहित्य, हमारी संस्कृति
और फिर यह समूचा समाज ही
ऐसे ही गुह्य-गोपन संबंधों से
अँटा पड़ा नहीं है!
किसी के पास कई-कई अल्फाज हैं
और चेहरे भी।

जहाँ तक शिल्प-परिवर्तन का प्रश्न है, तो इस परिवर्तन की कोख से उत्पन्न दुरूहताओं के संबंध में लीलाधर जगुड़ी अपनी कविता 'नीरस जमाने में सरस कवि' में अभिव्यक्त करते हैं कि यह दुरूहता नहीं, यह तो समझने वालों की ना समझी है :

नीरस जमाने में सरस कवि कहाँ से आयेंगे
अरस-विरस सहित थोड़ी सी सरस कविता
गनीमत है कि आ जाये तो
नासमझ की सराहना से घबराया हुआ
समझदार की चुप्पी से आहत कवि
चित्तविहिन आलोचक के सामने
चित होते देख रहा है अपने को
और उस आत्मरूप को चित्रित करने के लिए
नये शब्द ढूँढ़ रहा है।

ऐसा व्यंग्य कोई नया नहीं है। घरेलू संस्कृति की उपासक कविता को कतिपय

प्रगतिशील आलोचक परंपरा की सडांघ कह सकते हैं। पर उधार की जड़ों को खाद-पानी देकर पौधे को स्वस्थ वृक्ष के रूप में खड़ा नहीं किया जा सकता। आज की हिन्दी कविता में यही करने का प्रयास हो रहा है। सोवियत संघ के विखंडन और अमेरिकी अर्थवाद के मकड़जाल में उलझता विश्व और उसका प्रभाव आज की कविता में स्पष्ट रूप से उभर रहा है। आज का वैश्वीकरण बाजारवाद का प्रतिबिंब है। मानवीय श्रम का मशीनीकरण हो रहा है, इसीलिए दैहिक श्रम के महत्त्व का न होना व्यक्ति के अवमूल्यन का द्योतक बन गया है। आज की कविता में यह श्रमहीन और महत्त्वहीन व्यक्ति कहाँ है? कविता के शब्द बाजारवाद को कोसने के बहाने उसके साम्राज्य का प्रशस्तिगान करते प्रतीत हो रहे हैं।

स्पष्ट है, वैश्वीकरण का यही रूप कविता में उभर रहा है। इसमें आम आदमी की प्रतिष्ठा के नाम पर आम आदमी को छला जा रहा है। यह कविता कम-से-कम भारतीय कविता की नियति और प्रकृति तो नहीं है। बस, इसी बिंदु पर संस्कृति का प्रश्न आ खड़ा होता है और वैश्वीकरण की एक ही संस्कृति है-अर्थ। अब संस्कृति की परंपरागत परिभाषाएँ भूमंडलीकरण के प्रभाव से बासी पड़ चुकी हैं। आज का जो युग है-उत्तर आधुनिक युग - इसकी अपनी संस्कृति है, अपनी सभ्यता है, अपनी कविता है, अपने कवि हैं, अपना समाज है और अपना साम्राज्य है-सब नई संस्कृति से अच्छादित है।

कविता अनुराग सृष्टि का सृजन करती है। यह सृष्टि मोहक तब होती है, जब इसकी अभिव्यंजना शक्ति में मोहन की तीव्रता हो। नवीन बिंबों और नवीन शिल्प से पोषित यह अभिव्यंजना शक्ति इतनी तीव्र हुई है कि तीखी होकर स्वादहीन हो गयी है। इस स्वाद की स्थापना तो पवित्राचरण, उदात्त चिंतन, उदात्त सौंदर्य दृष्टि और कर्म की सादगी के प्रभाव से ही कविता में हो सकेगी। भारतीय कविता के ये ही सांस्कृतिक प्रतिमान हैं और अपनी इन्हीं जड़ों की ओर लौटना आधुनिक भारतीय कविता का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिए। इसी कविता में व्यक्ति का गौरव निहित है, व्यक्ति के उद्योग का सम्मान निहित है।

माधुरी सिंह के शब्दों में- 'कविता मनुष्य का वह आदिम रागात्मक साधन है जिसकी नियोजित सीमा के भीतर वह अपने सुख-दुख की संवेदात्मक अभिव्यक्ति करता है। मनुष्य के विकास के समानान्तर कविता का विकास दर्शन की अपेक्षा पूर्व का है क्योंकि कविता अभिव्यक्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण और सूक्ष्म विधा है। यही कारण है कि विश्व की हर भाषा का साहित्यिक विकास कविता से ही देखने को मिलता है। आज हिन्दी कविता का वस्तु-सत्य, काव्य-सत्य की अपेक्षा इतना प्रमुख है कि कविता का एक लम्बा दौर सपाट बयानी के अलंकरण की उपलब्धि

माना जाता है। किंतु यह सपाट बयानी अपनी कथ्यगत ईमानदारी के कारण कला का पर्याय बन गयी है, किन्तु ऐसा क्यों है कि कविता की सपाटबयानी उसे रचनात्मक मूल्य प्रदान करती है और किसी भी नेता अथवा विचारक की वाणी कविता नहीं होती? निश्चय ही इस विरोधाभास के पीछे कवि का वह लोक होता है, जिसकी संवेदनाएँ अपनी घटनात्मक वैचारिकता से निकलकर, अनुभूति के सूक्ष्म धरातल पर कविता हो जाती है। यही कवि के द्वारा रचित सौंदर्य है, जो सपाट बयानी के भीतर भी कविता की सृष्टि करता है।"

संदर्भ :

1. वसुधा: सं. कमला प्रसाद, दिसम्बर 2002, पृ. 343

2. कथादेश: सं. हरिनारायण, जून 2007, पृ. 51

3. साक्षात्कार: सं. सोमदत्त, जून 1985, पृ. 133

4. वसुधा सं. कमला प्रसाद, दिसम्बर 2002, पृ. 222 5. कथादेश: सं. हरिनारायण, जून 2007, पृ. 33

6. वसुधा सं. कमला प्रसाद, दिसम्बर, 2002, पृ. 92

7. सम्मेलन: सं. विभूति मिश्र, पृ. 250

साठोत्तरी उपन्यास-साहित्य का शिल्प-विधान

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में स्वतंत्रता के पश्चात् की विधाओं का अपना एक विशिष्ट मूल्य है, पर सन् साठ या साठ के बाद का समय अति विशिष्ट माना जाता है। इस काल के लेखकों ने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी साहित्य की अनछुई दिशाओं को स्पर्श किया है। यही कारण है कि यह समय समीक्षकों के मध्य विशेष चर्चा में रहा है। साठोत्तरी कविता, साठोत्तरी उपन्यास, साठोत्तरी कहानी, साठोत्तरी समीक्ष जैसे नामों से इसे अभिहित किया गया है। यद्यपि आज साठोत्तर समय 46 वर्ष पीछे रह गया है। इन 46 वर्षों में साहित्यिक विधाओं में अनेक (कथ्य-शिल्प में) उतार-चढ़ाव आये हैं किन्तु फिर भी उसका नामकरण अब भी स्थिर है- साठोत्तरी। सन् 60 के आसपास का समय अत्यंत उथल-पुथल भरा रहा। देश की आजादी अभी मात्र 13 वर्ष की किशोरी थी। भारत अभी अपने पैरों खड़े होने का मंसूबा ही बाँध रहा था कि सन् 1962 में चीन ने आक्रमण कर 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के नारे के भ्रम को तोड़ दिया। 1964 में नेहरू जी का निधन, 1965 में पाकिस्तान द्वारा आक्रमण, शास्त्री जी का अकाल निधन, पाँच वर्ष पश्चात् ही पाकिस्तान द्वारा दुबारा आक्रमण, इन्दिरा जी द्वारा आगामी वर्षों में आपातकाल लागू करना आदि घटनाएँ रही जिनकी प्रतिच्छाया इस कालखण्ड में लिखे गये उपन्यासों पर स्पष्ट रूप से पड़ी है।

एक ओर राष्ट्रीय स्तर पर ये घटनाएँ घटित हो रही थीं तो दूसरी ओर आजादी मिलने के बाद का स्वर्णिम स्वदेशी स्वप्न आम जन का चूर-चूर हो रहा था। निम्न मध्यवर्गीय समाज लाचारियों और कठिनाइयों में जी रहा था। इस वर्ग द्वारा किये जा रहे जी तोड़ श्रम और प्रयास भी गरीबी और भुखमरी को दूर नहीं कर पा रहे थे। सरकार में बैठे नुमाइंदों में स्वार्थपरता और स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। इन सब कारणों से 1960 के बाद का समय मोहभंग का काल है। इसके कारण विद्रोह और आक्रोश भी जनमानस में पनपा जिसकी परिणति इस काल के उपन्यासों में परिव्याप्त है। वस्तुतः साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास व्यक्ति-बोध,

भाव-बोध और युगीन संवेदनाओं से सम्पृक्त है। मनुष्य की सूक्ष्म मानसिक जटिलताएँ, समस्याएँ तथा उसकी विशिष्ट चेतना का रूपांकन साठोत्तरी उपन्यास का विशेष लक्ष्य ज्ञात होता है।

डॉ. पुरुषोत्तम दूबे ने लिखा है कि 'आज का उपन्यासकार ऐतिहासिक, सामाजिक या राजनीतिक उपन्यास नहीं लिखता, वह उनके माध्यम से आधुनिक व्यक्ति चेतना को परखता, प्रतिष्ठित करता और उसका मूल्यांकन करता है।" उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वस्तु की प्रकृति के आधार पर प्रेमचन्द पूर्व अथवा प्रेमचन्द युग में उपन्यासों का जो वर्गीकरण किया गया था, प्रेमचन्दोत्तर काल में वह बेमानी हो गया। स्पष्ट है जब कथ्य में परिवर्तन होता है तो उसके शिल्प में भी बदलाव आता है। डॉ. दंगल झाल्टे के अनुसार- 'इन उपन्यासों में काव्य की तरह बिंब तथा प्रतीकों को नई अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया जा रहा है। साठोत्तरी उपन्यासों में नई भाषा का निर्माण, नित नये बिंबों की तलाश, अनछुए प्रतीकों की खोज और युगानुरूप अभिव्यक्ति का प्रांजल निर्वाह किया जा रहा है। उपन्यास के इतिहास में पहली बार इन युवा इतिहासकारों ने सही अर्थों में- 'मैंने मैं शैली अपनायी' वाली निराला की उक्ति को चरितार्थ किया है।'

साठोत्तरी उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है-व्यक्ति के मन में पैठकर उसकी ग्रंथियों को सुलझाने का प्रयास और उसकी पृष्ठभूमि में समस्याओं का हल तलाश करना। इसके लिए 'मैं शैली ही सर्वथ उपयुक्त है। 'मैं' शैली के अतिरिक्त अन्य शैलियों के माध्यम से भी साठोत्तरी उपन्यासों में नये प्रयोग हुए हैं। डॉ. राही मासूम रजा का 'आधा गाँव', कमलेश्वर का 'समूह में खोया हुआ आदमी', बदीउज्जमां का 'एक चूहे की मौत', मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी', राजकमल चौधरी का 'मछली मरी हुई', श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी', रामदरश मिश्र का 'जल टूटता हुआ', शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी', गिरिराज किशोर का 'चिड़ियाघर तथा गोविन्द मिश्र का 'लाल-पीली जमीन' आदि उपन्यास इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। भाषा-शैली, वाक्य-विन्यास, प्रयुक्ति, कथोपकथन का ढंग आदि शिल्प के प्रत्येक स्तर पर इन उपन्यासों में परिवर्तन परिलक्षित होता है।

प्रेमचन्द पूर्व के उपन्यासों का उद्देश्य समाज सुधार, नैतिक शिक्षा और उपदेश था। इसीलिए इन उपन्यासों का शिल्प भी तदनुसार था। हिन्दी उपन्यास भी अपनी शैशवावस्था में था। इन उपन्यासों में घटनाएँ प्रधान होती थीं, पात्रों का चित्रण गौण होता था। कहीं-कहीं तो पात्रों, घटनाओं तथा लेखक के मध्य पाठक सीधे आ जाता था। देवकी नंदन खत्री के 'चन्द्रकांता', 'चन्द्रकांता संतति', गोपालराम गहमरी के 'जासूस की जवानी', किशेरी लाल गोस्वामी के 'कुसुम

कुमारी', बालकृष्ण भट्ट के 'सौ अजान एक सुजान', नूतन ब्रह्मचारी आदि उपन्यासों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण दृष्टव्य है- 'पाठक समझ गये होंगे कि मूरत के हाथ से जो खंजर कुमार ने ले लिया, वह उसी प्रकार का तिलिस्मी खंजर था, जिसका पहले एक खंजर कमलिनी की बदौलत कुमार के पास था। प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में शिल्प का यह रूप तो समाप्त हो गया पर कथोपकथन के स्तर पर पात्रों के बार-बार नामोल्लेख का सिलसिला चलता रहा। यद्यपि शीघ्र ही इस बंधन से उपन्यास मुक्त हो गया।

प्रेमचन्द युग चरित्र-वैचित्र्य के आधार पर घटना के संघटन का युग रहा है और साठोत्तरी उपन्यास पात्रों के मनोविश्लेषण का। केवल मनोविश्लेषण ही नहीं, मार्क्सवादी, आँचलिकता तथा अस्तित्ववादी पद्धतियाँ भी साठोत्तरी उपन्यास में दृष्टिगोचर होती हैं। अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी', 'जैनेन्द्र का मुक्तिबोध', उषा प्रियंवदा का 'रूकोगी नहीं राधिके' अस्तित्ववादी विचारधारा के निदर्शन हैं। रेणु के अतिरिक्त साठोत्तरी आँ आँचलिक उपन्यासों में जो नाम तीव्रता के साथ उभरा है, वह है-मैत्रेयी पुष्पा । जिन्होंने बुदेलखण्ड की पृष्ठभूमि पर 'अलमा कबूतरी' और 'कही ईसुरी काग' जैसे उपन्यास हिन्दी साहित्य को दिये। इन दोनों उपन्यासों का भाषायी और परिवेशगत शिल्प-सौष्ठव देखने योग्य है।

कथावस्तु का नियोजन भी वर्तमान और अतीत के ताने-बाने से किया गया है। भाषा रूप का उदाहरण दृष्टव्य है- 'जिसे सुलगता रेगिस्तान कहा जा सकता है, वह रज्जो का घर था। आत्मशक्ति भी सुलगन से मुठभेड़ करती हुई। अधेड़ की तरह जाने वाली खबरों ने जीजीविषा को तोड़-मरोड़कर घर दिया। पति क्या गया, रज्जो वीरान हो गयी और वह लम्बे समय से आया नहीं। सो विना नाथ-पगहा की गाय की तरह देखी जा रही है। अव यह मात्र साधारण भाषा नहीं है। रज्जो के घर की विभीषिका को सुलगता रेगिस्तान और ग्रामीण पृष्ठभूमि के लिए ग्रामीण बिंब बिना नाथ-पगहा की गाय' अपने आप में अद्‌भुत है। भाषयी तीव्रता, बिंब और प्रतिमानों के सर्वथा नये प्रयोग साठोत्तरी उपन्यास की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ हैं।

साठोत्तरी उपन्यास के शिल्प में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ, वह है-परंपरागत 'कथानक' के स्थान पर 'कथा-विन्यास' की मान्यता स्थापित होना जिसके अंतर्गत जिज्ञासा वत्ति का जगाना है। इस कौतूहल वृत्ति के कथा-विन्यास में परितोष करने की सामर्थ्य का गुण होना आवश्यक है। 'साठोत्तरी उपन्यासकारों ने कथा तत्त्व को भोंडा और अनावश्यक ठहराया है। ये उपन्यासकार 'स्व' का अन्वेषण करने की

प्रक्रिया में मानव के समस्त जीवन-मूल्यों का अन्वेषण करना चाहते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में कथा का कोई औचित्य या आवश्यकता नहीं रह गयी है। आपका बंटी, (मन्नू भंडारी), 'मुरदाघर' (जगदम्बा प्रसाद दीक्षित), 'अठारह सूरज के पीचे' (रमेश बक्षी), 'पागल कुत्तों का मसीहा' (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) आदि ऐसे उपन्यास है जिनमें कथानक नहीं है, कथा का मोह नहीं है। इनमें यदि है तो आधुनिक व्यक्ति की वेदना, भय, कुंठा, घुटन, पीड़ा और संत्रास को एक विशेष शैली में परिभाषित करने का प्रयास। उपन्यास के कथानक पर ही नहीं, पात्रों और उनके परंपरागत चरित्र-चित्रण पर भी साठोत्तरी उपन्यासों में प्रहार किये गये हैं। इन उपन्यासों में चरित्र-चित्रण जैसी कोई पद्धति या कोई तत्त्व प्रायः उपस्थित नहीं है। यही परिवर्तन संवाद, परिवेश एवं उद्देश्य आदि में परिलक्षित होता है। डॉ. दंगल झाल्टे के शब्दों में-'शिल्प, शैली तथा कथ्य के अनेक रूप उभरकर टूट रहे हैं और टूटकर अनेक नई प्रणालियाँ उभर रही हैं। इस कालखण्ड के उपन्यासों में परंपरागत उपन्यास का रूप लुप्त प्राय हो रहा है, क्योंकि युगीन संदर्भ बदल गये हैं।" इस प्रकार साठोत्तरी उपन्यास में प्रयोग धर्मिता का जो सिलसिला सन् 60 के आपसपास प्रारंभ हुआ था, वह अब भी सतत जारी है।

संदर्भ :

1. व्यक्ति चेतना और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास - डॉ. पुरुषोतम दूबे, पृ. 55

2. उपन्यास समीक्षा के नये प्रतिमान डॉ. दंगल झाल्टे, पृ. 93

3. चन्द्रकांता संतति - देवकीनंदन खत्री, पृ. 105

4. कही ईसुरी फाग - मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 185

5. उपन्यास समीक्षा के नये प्रतिमान डॉ. दंगल झाल्टे, पृ. 109

6. वही, पृ. 191

मैत्रेयी पुष्पा के कथा-साहित्य में नारी

मैत्रेयी पुष्पा आज की सर्वाधिक चर्चित और सजग कथा लेखिका हैं। इनके अब तक के समूचे कथा-साहित्य में नारी अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए संघर्ष करती दिखाई देती है। यह संघर्ष समाज से है, रूढ़ियों से है, थोपी गयी परंपराओं से है और पुरुष की अहं में लिपटी मानसिकता से है। मैत्रेयी जी के कथा जगत् की नारियाँ प्रायः ग्ामीण या कसबाई परिवेश की हैं, जहाँ शिक्षा नहीं है, आधुनिक तकनीक नहीं है और उन्हें बासी मानसिकता से बाहर निकालने वाला कोई पथ-प्रदर्शक नहीं है। मैत्रेयी जी के कथा जगत् की नारियाँ स्वयं ही अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ती हैं और पुरुष के वर्चस्व को तोड़ने का प्रयास करती हैं।

'इदन्नमम' उपन्यास की नायिका मंदा (मंदाकिनी) अकेली ही सारे पुरुष समाज से टकराती है। अपने ऊपर हो रहे अन्याय और अत्याचार को वह चुपचाप सहन नहीं करती, अपितु उसका डटकर मुकाबला करती है। अपने साथ हुए कुकर्म को भी वह भूलकर नया जीवन जीने का प्रण करती है, अंततः अपना प्यार ठुकराकर समाज के प्रति कर्त्तव्यबद्ध होकर चल देती है-एक सत्य की खोज में। सामान्यतः यह माना जाता है कि नारी अपने प्यार के लिए पागल हो उठती है और उसे पाने के लिए कुछ भी कर बैठती है। यह स्वार्थ की पराकाष्ठा है। पर 'इदन्नमम' उपन्यास की नायिका मन्दा इस मिथक को तोड़ती है। इस उपन्यास में मन्दा जहाँ ऐसी भ्रांतियों को विखण्डित करती है, वहीं नारी की मूक वेदना उपन्यास की सहनायिका कुसमा के माध्यम से स्वर पाकर झर-झर झरने लगती है।

प्रगतिशीलता का ठेका उच्च शिक्षित और नारी मुक्ति के नाम पर महिला संगठनों के पुरुष तथा हाई सोसायटी की स्त्री पदाधिकारियों के पास ही नहीं है। प्रगतिशील स्पंदन कुसमा जैसी अशिक्षित और ग्रामीण स्त्रियों के पास भी हैं। इस पात्र के द्वारा मैत्रेयी जी का सीधा-सीधा संदेश है कि नारी स्वातंत्र्य पर बहुत सेमीनार हो चुके, पत्र-पत्रिकाओं में और टी.वी. पर बहुत बहसें छिड़ चुकीं, पर

कसबे की निवासी स्त्री को अब तक क्या मिला? अब नारी स्वातंत्र्य की धार का प्रवाह 'मैडम एक्स' से कुसमा की ओर प्रवाहित होना चाहिए। अब ढोर और पंछी को सहचर बनाने की मानसिकता में परिवर्तन लाना ही होगा, मनु और व्यास द्वारा थोपी इबारत की पुनर्व्याख्या करनी ही होगी और उसके धुंधले पड़ चुके अक्षरों को फिर नई कलम से लिखना होगा।

शहरों, नगरों और महानगरों को नारी' विमर्श की केवल दस प्रतिशत आवश्यकता है, 90 प्रतिशत आवश्यकता अशिक्षित और ग्रामीण कुसमा को है। मैत्रेयी जी का सम्पूर्ण कथा-साहित्य नारी-मुक्ति का आइना है। हमें 60 वर्ष हो गये आजाद हुए। संविधान ने तो लिंग भेद समाप्त कर दिया, सबको विचारों की अभिव्यक्ति और कार्य करने के अधिकार दे दिये, पर क्या वास्तव में इससे नारी का स्वतंत्र अस्तित्व बन सका? और तो और प्रजातंत्र के सबसे बड़े अधिकार मत का प्रयोग भी वे अपनी मर्जी से नहीं कर सकतीं। इसके लिए भी स्त्री को नहीं? उसके पति, पुत्र या पुरुष नेतृत्व वाले परिवार की मर्जी चलती है।

स्त्री सर्वाधिक चर्चित रही है-यौन संबंधों को लेकर। यही वह सबसे अधिक संवेदनात्मक बिंदु है, जिस पर पुरुष नैतिकता के पहरेदार से स्त्री की पहरेदारी करता है। पुरुष को मनपसंद स्त्री के वरण का अधिकार है, स्त्री को नहीं। पुरुष उच्छृंखला होकर अनेक स्त्रियों से दैहिक संबंध बनाकर भी पवित्र है, स्त्री के लिए यही कृत्य कुलटा और वेश्या जैसी संज्ञाओं का कारण बन जाता है। मनुष्य द्वारा आविष्कृत यौन शुचिता का यह भाव स्त्री की मानसिकता को कुंठित करता है। मैत्रेयी जी के कथा जगत् के नारी-पात्र मनुष्य के इस दोगलेपन के विरुद्ध खुला विद्रोह करते हैं। 'चाक' उपन्यास की विवाहित नायिका सारंग इसी विद्रोह की प्रतीक है जो ग्राम में पदस्थ कुँवारे मास्टर जी श्रीधर को चाहती है। उसकी घायल अवस्था में उसकी सेवा के लिए रात भर उसके पास रहती है और समाज की खोखली वर्जनाओं को एक झटके में दूर झिड़क देती है।

मैत्रेयी जी के कथा-साहित्य में नारी-चित्रण की यह विशेषता है कि वे दो नारियों के समानान्तर सूत्र बुनती हैं। इनमें एक मध्यकाल के हथकरघे का होता है और दूसरा आधुनिक मशीन पर बुना हुआ। यह परिवर्तन स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। 'इदन्नमम' में तीन पीढ़ियों की कथा एक साथ कही गयी है। बऊ की पीढ़ी जिन मार्गों से चली है, वह घर की देहरी के भीतर समाप्त होता था। मंदा की माँ प्रेमा का चरित्र रेशमी अक्षरों से गढ़ा गया है जिसकी चिकनी परत के आकर्षण पर वह फिसल जाती है और अपने पति के मृत्योपरांत अपने प्रभावशाली बहनोई के साथ भाग जाती है। परंतु मन्दा के चरित्र में परिवर्तन की उच्चता है और उसमें

आत्मसात करने की समन्वयात्मक प्रवृत्ति है।

मानवी जी के नारी पात्र उस मध्यकालीन मानसिकता को तोड़ते हुए प्रतीत होते हैं, जिससे बलात्कार, अपहरण जैसे शब्द अपना जाल बुन ही न सके। ये नारी-पात्र अपने दैहिक साथी की तलाश स्वयं करते हैं। इनमें न जाति का भेद के न उम्र का, न संबंधों का। तभी तो 'अगनपाखी' उपन्यास की नायिका भुवन और चन्द्रपकाश में यौन संबंध स्थापित हो जाते हैं जबकि भुवन कथा नायक चन्द्रप्रकाश की सगी, परंतु हमउम्र मौसी है।

मैत्रेयी जी के कथा-साहित्य में नारी के परिवर्तित स्वरूप का जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है, वह है- 'तब' और 'अब' का मनौवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुतिकरण। प्रस्तुतिकरण का यह ढंग उनके समूचे कथा-साहित्य में व्यक्त हुआ है। कर्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था में नारियों का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण था, यह उनकी कहानी 'रिजक' में परिलक्षित होता है। ग्रामों में बच्चा जनवाने (प्रसूति) का कार्य केवल बसोर जाति की अनुभवी स्त्रियाँ करती थीं, समय के परिवर्तन ने यह परंपरा समाप्त कर दी और नारी ने भी उस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया। जो ललन गाँव में परंपरागत प्रसूति कराती थी, उसका कार्य परिवर्तित हो गया 'गाँव में खबर फैल गयी, लल्लन मेम बनकर आयी है। मडैया के आगे से जो निकलता, एक नजर उसकी ओर जरूर देखता। जिस तरह आयी थी, उसी तरह रही। उसी पोशाक में, उसी अदा से, उसी इलम के साथ।"

नारी का जो स्वरूप दो-तीन पीढ़ियों पूर्व था, नई पीढ़ी में उसमें बदलाव आ रहा है। यह परिवर्तन शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक सभी स्तरों पर है, परंतु इन सबमें प्रमुख है-मानसिक। शेष परिवर्तन तो मानसिक परिवर्तन के दास हैं। यह परिवर्तन प्रगतिशील चेतना के विस्तार के कारण हुआ है। मैत्रेयी जी को थोथी प्रगतिशीलता भी स्वीकार्य नहीं। वे तार्किक प्रगतिशीलता की पक्षधर हैं। मैत्रेयी जी के सारे नारी-पात्र इसी तार्किक प्रगतिशीलता के पथ पर चले हैं। इस पथ के पथिकों में मन्दा, कुसमा, सारंग, भूरी, भुवन, शीलो और रजउ आदि हैं। इतना ही नहीं 'गोमा हँसती है 'ललमनियाँ' संकलनों की कहानियों के वे सारे नारी-पात्र भी हैं। जो नारी न समाज के हाथों की कठपुतली है, न लेखिका के हाथों की। अपने संघर्ष द्वारा अपने अस्तित्व का परिवर्तन वे खुद कर रही हैं।

नारी स्वातंत्र्य की प्रबल समर्थक मैत्रेयी जी ने अपने कथा-साहित्य में नारी की मौन छटपटाहट को मुखर वाणी दी है। उनकी दृष्टि महानगरीय चकाचौंध से पोषित स्त्री पर नहीं, अपितु ग्रामीण स्त्री पर रही है, जहाँ रूढ़िवादिता, थोथी परंपराओं और लिजलिजे संबंधों का अब भी अंधकार है। मैत्रेयी जी की नारी का

परिवर्तित होता स्वरूप पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण नहीं है। भारतीय परिवेश में लगी हुई जंग को साफ करने का उपक्रम मात्र है। जिस प्रकार द्विवेदी युगीन काव्य के प्रमुख हस्ताक्षर मैथिलीशरण गुप्त का काव्य शोषितों, वचित मीर उपेक्षित नारी पात्रों की पीड़ा को स्वर प्रदान करने के लिए जाना जाता है। उसी प्रकार मैत्रेयी जी का कथा-साहित्य ग्रामीण नारियों को स्वर प्रदान करने के लिए जाना जाता है। भारतीय नारी को मध्यकाल की भोग्या और प्राचीनकाल के दैवीय गुणों की थोथी मानद उपाधियों से पुरुष ने मण्डित कर रखा था। उसका अस्तित्व ही समाप्त होता जा रहा था।

मैत्रेयी जी के कथा-साहित्य में नारी ने इस चोंगे को उतार फेंका है। वह कुल्टा, वैश्या, परपुरुष गामिनी, रखैल जैसी फर्जी डिग्रियों और सती, सावित्री, सीता जैसे महिमा-मण्डित नामों के हस्ताक्षरों से जारी की गयी - ममता की देवी, श्रद्धा, पतिव्रता, कुल-वधू, गृहलक्ष्मी जैसी चमकीली डिग्रियाँ लेने को तैयार नहीं। मैत्रेयी जी के कथा-साहित्य के नारी-पात्र मुक्त गगन में विचरण करना चाहते हैं और इसके लिए वे अपने पंखों की उड़ान-शक्ति को तौलते हैं, अपनी सामर्थ्य को स्वयं तलाशते हैं।

संदर्भ :

1. इदन्नमम : मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 83

2. चाक : मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 324

3. अगनपाखी : मैत्रेयी पृष्पा, पृ. 53

4. ललमनियाँ एवं अन्य कहानियाँ मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 20

हिन्दी गजल : विकास-यात्रा

गजल के संबंध में कुछ भी लिखने से पूर्व यह तथ्य उजागर कर देना आवश्यक है कि गजल का जन्म अरबी में तश्बीव (अति संक्षिप्त प्रणय गीत) या कसीदे की कोख से हुआ। इस प्रकार गजल अरबी से फारसी, फारसी से हिन्दी और हिन्दी से उर्दू में आई। नाजुक ख्यालों की अभिव्यक्ति का नाम ही गजल है। यह एक स्वतंत्र काव्य रूप है। जिसका हर शेर अपने आप में एक स्वतंत्र कविता है। उसका एक ढाँचा है, अपनी एक संरचना है। रदीफ और काफिये की कैद है। गजल शब्द बुनियादी तौर पर अरबी भाषा का है। कुछ लोग गजल को मूलतः फारसी शब्द भी मानते हैं जो गजाला (शावक) से बना है। कुछ भी हो यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से एक हजार वर्ष पूर्व महाकवि शेखसादी ने गजल विधा को फारसी में विकसित किया। कुछ विद्वानों ने ईरान में रौदकी नामक एक अन्धे कवि को गजल का जन्मदाता माना है।

फारसी में यह विधा हिन्दी गजल के रूप में सबसे पहले हमें तेरहवीं सदी में सूफी संत हजरत अमीर खुसरो (1253-1325) के साहित्य में प्राप्त होती है :

जब यार देखा नैन भर दिल से गई चिन्ता उतर ।

ऐसा नहीं कोई मंजव राखे उसे समझाय कर !!

हजरत अमीर खुसरो के बाद सन्त कबीर (1398-1493) ने भी हिन्दी में गजल कहीं :

हमनहै इश्क मसताना, हमनकों होशियारी क्या

रहे आजाद या जग से हमन दुनियाँ से यारी क्या?

हिन्दी गजल का यह तेरहवीं और चौदहवी सदी का रूप है। जबकि उर्दू गजल हमें सत्रवहीं सदी में जनाब वली औरंगावादी (1628-1707) के कलाम में दस्तयाब होती है :

विरागी जो कहाते हैं उन्हें घर बार क्या करना।

हुई जोगन अभी पी की उसे संसार क्या करना।।

हिन्दी साहित्य में गजल का सृजन छन्दबद्ध काव्य की वापसी है। प्रेषणीयता में आये गतिरोध को तोड़ने के लिए और नई कविता में पैदा हुई आवत्ति परक एकरूपता से उबकर समकालीन कवियों ने गजल लिखना प्रारम्भ किया। अतृप्ति के तट पर खड़ी कविता युगों-युगों से समय के यक्ष प्रश्नों से जूझती रही है। इस सन्दर्भ में दुष्यन्त कुमार ने अपने दूसरे गजल संग्रह 'साये में धूप' में स्वंय लिखा- 'मैं बराबर महसूस करता हूँ कि किसी कवि के लिए कविता में एक शैली से दूसरी शैली की ओर जाना कोई अनहोनी बात नहीं। बल्कि एक सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया है। मैंने अपनी तकलीफ को उस शदीद की तकलीफ को, जिससे सीना फटने लगता है, ज्यादा से ज्यादा सच्चाई और समग्रता के साथ ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँचाने के लिए गजल कहीं है।"

दुष्यन्त के इस विचार में प्रेषणीय छंद और बोलचाल की भाषा की ओर कविता को वापस लाने का आग्रह है। हिन्दी के इस लोकप्रिय गजलकार ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में 'साये में धूप' लिखकर गजल विधा में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। अपनी गजलों के विषय में स्वयं दुष्यंत ने 'कल्पना' पत्रिका के आत्मकथ्य में लिखा- "जिन्दगी में कभी-कभी ऐसा दौर आता है, जब तकलीफ गुनगुनाहट के रास्ते बाहर आ जाना चाहती है। उसमें फंसकर गर्ने-जानाँ और गम-दौराँ तक एक हो जाते हैं। ये गजलें ऐसे ही दौर की देन हैं :

हो सकता है अपनी-अपनी पीड़ा को लेकर

हर आदमी को यह वहम होता हो

लेकिन इतिहास मुझसे जुड़ी हुई

मेरे समय की तकलीफ का गवाह खुद है।

भाषायी सौहार्द और राष्ट्रीय एकता के हित में गजल लेखन की परम्परा सराहनीय रही है। स्वतंत्रता संग्राम में गजल का जादू शहीदों के सर पर चढ़कर बोला। बहादुरशाह जफर, रामप्रसाद विस्मिल, मुजारिब, हेमानन्द रावत, कुमार हृदय आदि कवियों ने देश प्रेम की गजलें लिखीं।

हिन्दी और उर्दू की गजलों में केवल लिपि का भेद है। हिन्दी गजल का रचना विधान कोई नया नहीं है। वह उर्दू से ही लिया गया है। डॉ. सरदार मुजावर के अनुसार ठाकुर रवीन्द्र नाथ टैगोर जैसे महाकवि का राष्ट्रगीत 'जनगणमन अधिनायक जय हे' उर्दू गजल की बहर पर लिखा गया है। आज हिन्दी साहित्य में गजल का उत्पादन बड़ी तेजी से हो रहा है। नित नये गजलकार पैदा हो रहें हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गजल अत्यधिक संवेदनशील विधा है। इसके कथ्य और शिल्प की बारीकियों को जाने बगैर गजल लिखना सम्भव नहीं। गजल शमशेर

बहादुर ने भी लिखी किन्तु दुष्यन्त की गजलों में आज के नये कथ्य की जो पकड़ पैदा हुई उसको आज के हिन्दी गजलकार अपनी-अपनी प्रतिभा से विकसित कर रहें हैं।

दुष्यन्त से पूर्व भारतेन्दु, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी ' मैथिलीशरण गुप्त, जगदम्बा प्रसाद हितैषी, ग्याप्रसाद शुक्ल सनेही आदि आदि लगभग सभी सजग कवियों ने अपने अपने ढंग से गजल की रचना की या उससे प्रभावित हुए। गजल उर्दू साहित्य के तो सदैव केंद्र में रही है। परन्तु बीसवीं सदी के पाँचवें दशक के आसपास यह हिन्दी साहित्य की भी सर्वाधिक लोकप्रिय काव्यधारा के रूप में उभर कर आई। वर्तमान युग में गजल का जो परिष्कृत और प्रवाह पूर्ण रूप सामने आया है। उसका प्रारम्भ पं. प्रतापनारायण मिश्र ने विशुद्ध हिन्दी गजलें लिखकर भारतेन्दु युग में किया।

हिन्दी में नये-नये छन्दों का प्रयोग भारतेन्दु युग में प्रारम्भ हो गया था। उसी के साथ खड़ी बोली में उर्दू की गजल तथा अन्य बहरों (छन्दों) का प्रयोग किया गया। सनेही युग के कानपुर के कवियों ने हिन्दी छन्दों के विकास में दो उल्लेखनीय कार्य किये। एक तो उर्दू छन्दों का हिन्दीकरण तथा दूसरा कवित्त, सवैया छन्दों की खड़ी बोली में स्थापना। वर्तमान युग में गजल और रूबाई के अतिरिक्त उर्दू के अनेक छन्दों को हिन्दी में विकसित करने का श्रेय कानपुर के कवियों को ही है।

यह सत्य है कि हिन्दी में गजलों का विधिवत् तौर पर सूत्रपात भारतेन्दु युग से हुआ लेकिन हिन्दी में गजल को नई यथार्थवादी संवेदना से प्रभावशाली अभिव्यक्ति देने में दुष्यन्त की प्रतिभा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। अतः इस युग को आम आदमी के दर्द से जुड़ी हिन्दी गजल का युग कह सकते हैं। क्योंकि आज की गजल का आम आदमी की पीड़ा से गहरा रिश्ता है। 'काव्य संकलन दर्द के दरख्त' की भूमिका में युगकवि डॉ. रामस्वरूप खरे लिखते हैं कि - "पीड़ा, दुख, दर्द वह शबनम है जो उदारता की रश्मि का स्पर्शकर अनमोल मोती बन जाती है। शाश्वत पीड़ा हम सबको चिरन्तन की ओर ले जाकर खुदा के नूर में फना कर देती है। सत्यम्, शिवम, सुन्दरम्, की यही समन्वित भावना विश्व बन्धुत्व का द्वारा खोलती है।"

हिन्दी गजल की यह महत्त्वपूर्ण देन है कि उसने पूर्ववर्ती गजल परम्परा के कथ्य को तोड़कर अपने लिए एक नई जमीन तैयार की। दुष्यन्त के आगमन से हिन्दी गजल साहित्य में एक नये युग का आरम्भ हुआ। उन्होंने आम आदमी की तकलीफ को अपने एक बहुत निकट से समझा इसलिए उनकी गजलों में आम

आदमी की टूटन एवं घुटन का यथार्थ चित्रण हुआ है।

जीवन और जगत के विविध व्यापारों की रमणीय अभिव्यक्ति का नाम ही कविता है। सुप्रसिद्ध हिन्दी गजलकार ज्ञानप्रकाश विवेक ने अपने हिन्दी गजल संग्रह 'धूप के हस्ताक्षर' में हिन्दी गजल की अवधारणा को रेखांकित करते हुए लिखा- 'हिन्दी जुबान को गजल की लोकप्रियता इसलिए मिली कि उसमें संवदेन शीलता है। जो आम आदमी के अवसाद से तादात्म्य स्थातिप करती है। आधुनिक कविता की जटिलता, सपाटवयानी और पाठकों की अरुचि ने हिन्दी कवियों को गजल लिखने के लिए प्रेरित किया। गजल अपनी कसावट और प्रेषणीयता के कारण हिन्दी भाषा में विकसित हुई। आज की गजल मरसियों और मजरों में इस्तेमाल की जाने वाली विघा नहीं, अपितु विसंगतियों और समाज में पनप रही विडम्बनाओं पर प्रहार करने का पैना अस्त्र है।"2

अब देखना यह है कि इस परिवर्तन के युग में ऐसा न हो कि हम गजल साहित्य की अच्छी परम्पराओं को भी तोड़ डालें जैसा कि हिन्दी कविता के साथ हुआ। जब हिन्दी कवियों ने छंद के बेहद दुश्वार कायदों से तंग आकर छंद को ही कविता से बाहर कर दिया और इस प्रकार छंदबद्ध कविता की हत्या कर दी। गजल की संरचना की बुनियादी शर्त उसका शिल्पगत अनुशासन है। यदि रचनाकार से अनुशासन भंग हुआ तो गजल का नाद सौन्दर्य (तगज्जुल-जो गजल की मुख्य शर्त है।) नष्ट हो जाता है।

हिन्दी में गजल आयातित विघा होते हुए भी आज के देश-परिवेश के सम्पूर्ण सन्दर्भों से उतनी ही जुड़ी है, जितनी हिन्दी की अन्य काव्य विधाएँ। कविता में भाव पक्ष का उतना ही महत्त्व है जितना कि शिल्प का। जो साहित्य संगीत का दामन पकड़कर नहीं चलता निःसन्देह वह एक दिन मृतप्राय होता है। गजल गीत काव्य है। हिन्दी गजल भी इसलिए अपवाद नहीं है। गजल में गीत काव्य की सारी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। जैसे संक्षिप्तता, लायात्मकता, छन्दात्मकता, प्रतीकात्मकता, भावुकता, कोमलता, सम्प्रेषणीयता व अनुभूति की तीव्रता आदि। यह तमाम वरिष्ठ रचनाकारों की साधना का प्रतिफल है हिन्दी गजल की दीर्घकालीन यात्रा आज एक सार्थक विन्दु तक पहुँची है।

समसामयिक प्रमुख हिन्दी गजलकारों में पद्मश्री चिरंजीत, डॉ. कुवँर बेचैन चन्द्रसेन विराट, ज्ञान प्रकाश विवके, माधवमधुकर, हरेराम समीप, अहतराम, इस्लाम, डॉ. रोहिताश्व अस्थाना विज्ञानव्रत, भवानीशंकर, अंसार कॅवरी, डॉ. अश्वघोष, वशीर अहमद 'मयूख', शिवओम 'अम्बर', डॉ. स्वामी श्यामानन्द 'सरस्वती रौशन', डॉ. रामसनेही लाल शर्मा यायावर, डॉ. रामस्वरूप खरे आदि के

नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी गजल के व्याकरण पर आर.पी. शर्मा 'महर्षि' भानुमित्र, माधवमधुकर, डॉ. कुँअर बेचैन, डॉ. मंगली प्रसाद निष्काम, आदि की पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों में उर्दू-फारसी बहरों के नामों का हिन्दीकरण भी किया गया है। डॉ. कुंअर वेचैन ने सूत्र 'यमाता राजभान सलगा' के आधार पर हिन्दी बहरों की उत्पत्ति की है। हिन्दी गजल तथा काव्य के लिए पं. सुघोष भारद्वाज 'ख्वाब' अकवरा वादी ने 'नवछन्द' नामक पुस्तक लिखकर एक सराहनीय कार्य किया है। अरूजे नौ (नवछन्द) पर यह अपने ढंग की एक अलग पुस्तक है। फिर भी अभी हिन्दी में गजल के छंद तथा शिल्प के जानकारों का अभाव है। हिन्दी गजल साहित्य की वर्तमान स्थिति यह है कि आज देश के अधिकांश नये गजलकार ही नहीं बल्कि गजल सम्राट कहे जाने वाली भी अपनी हिन्दी गजलों में कहीं-कहीं शेर का एक मिसरा बहरे खफीफ में तथा दूसरा बहरे रमल में लिख बैठते हैं। सच बात तो यह है कि हिन्दी गजल लेखन हेतु कोई छंदशास्त्र विशेष रूप से अभी तक नहीं लिखा गया है। हाँ कुछ उर्दू फारसी बहरों के नाम का हिन्दीकरण आवश्य हुआ है।

जैसे-

1. बहरे रजजसालिम (हरिगीतिका)
2. बहरे मुतदारिक (त्रिभंगा)
3. बहरे मुतकारिव (भुजंग प्रयात)
4. बहरे सरीअ (चौपाई)
5. बहरे मुतकारिव (उपेन्द्र बजा)
6. बहरे मुतदारिक सालिम (स्त्रिगिवणी)

आदि को गजल व्याकरणाचार्यों ने हिन्दी नाम देकर नये गजलकारों को एक नई दिशा प्रदान की है। बहरे कामिल भी छंद हरिगीतिका ही है। दोहा मंदाक्रांत्रा तथा अन्य छन्दों में भी गजल की रचना प्रक्रिया चल पड़ी है।

भाषा सौन्दर्य और संगीत की दृष्टि से भी आज हिन्दी में अच्छी गजलें लिखी जा रही हैं। युग की माँग के अनुरूप उसमें एक इन्किलाबी तेवर और अपनी एक अलग सोच है। वर्तमान समाज और आज की राजनीति का यथार्थ चित्रण है। देश और समाज में फैली हुई कुरीतियों एवं विसंगतियों पर तीखें प्रहार हैं। इस प्रकार हिन्दी गजल का भविष्य निश्चित रूप से विकासात्मक एवं सुखद है।

भारत में गजल तथा कव्वाली के प्रवर्तन का श्रेय तेरहवीं सदी के सुप्रसिद्ध सूफी संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (अजमेर) को है। पर गजल को प्रतिष्ठित करने में खिलजी और तुगलक साम्राज्य के राजकवि सूफी संत अमीर खुसरो का

महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। वर्तमान युग में भारतेन्दु युगीन गजल परम्परा को दुष्यन्त ने विकसित किया। तभी तो हिन्दी गजल साहित्य में दुष्यन्त कुमार मील के पत्थर साबित हुए। अन्त में मैं यही कहूँगा कि गजल को नई यथार्थवादी संवेदना से प्रभावशाली अभिव्यक्ति देने में दुष्यन्त का जवाब नहीं। उन्होंने जो महसूस किया उसको अपनी गजलों में बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त किया। दुष्यन्त की गजलों में व्यक्त दर्द स्वानुभूत है :

मैं जिसे ओढ़ता बिछाता हूँ।

वो गजल आपको सुनाता हूँ।।

संदर्भ :

1. साये में धूप दुष्यंत कुमार, पृ. 13

2. धूप के हस्ताक्षर ज्ञानप्रकाश, पृ. 39

3. नव बंद शाख: ख्वाब अकबरवादी, पृ. 37

हिन्दी का बाल-साहित्य

यद्यपि पंचतंत्र तथा हितोपदेश जैसी कृतियों से भारत में बाल-साहित्य का सूत्रपात हो चुका था, पर हिन्दी साहित्य में बालकों के लिए साहित्य-सृजन के कार्य का आरंभ अमीर खुसरो से माना जाता है। खुसरो की प्रहेलिकाएँ और मुकरियाँ हिन्दी में बाल-साहित्य के प्रारंभिक चरण हैं। बच्चों की प्रकृति के अनुरूप कुछ शायरी भी खुसरो के रचना-संसार में पाई जाती हैं। इसमें बाल-सुलभ कौतूहल एवं जिज्ञासा को तदनुरूप प्रस्तुत किया गया है। इस प्रारंभिक साहित्य में केवल मनोरंजन हुआ करता था। इस उम्र की प्रकृति भी मनोरंजनात्मक होती है।

संस्कृति ग्रंथों के साथ-साथ पंचतंत्र का हिन्दी में जब अनुवाद हुआ, तो मानो बाल-साहित्य क्षेत्र के द्वार ही खुल गए। राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी, सेठ, लकड़हारा, सैनिक, सेनापति, कलाकार जैसे पात्रों के साथ-साथ शेर, बंदर, मगरमच्छ, भालू, घोड़ा, चिड़िया, साँप, नेवला जैसे पशु-पक्षी पंचतंत्र की कहानियों के पात्र बने। इतना ही नहीं, पेड़-पौधे, फूल, तितली, भँवरे, चंद्रमा, तारे, सूर्य, पहाड़, नदी-नाले आदि का भी पंचतंत्र में समावेश है। इन सबको माध्यम बनाकर पं. विष्णु शर्मा ने समाज को नीतिगत शिक्षा देने का कार्य किया। सैकड़ों वर्ष पूर्व मूल संस्कृत की इस कृति की लोकप्रियता आज भी यथावत है। अब तो अधिकांश लोग इसे हिन्दी का ग्रंथ ही मानते हैं। जनसाधारण के लिए लिखा गया यह ग्रंथ बाल-साहित्य का अभिन्न अंग बन गया है।

हिन्दी में बाल-साहित्य के लेखन का समय लगभग 18वीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। इस समय देश भर में राष्ट्रीयता की आँधी चल रही थी। बच्चों में राष्ट्रीय भावना और देश-प्रेम भरने के उद्देश्य से इस समय के बाल-साहित्य का सृजन हुआ। अर्थात् बाल-साहित्य के उद्भव की प्रकृति राष्ट्र प्रेम थी। राम-कृष्ण, गौतम, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु, ध्रुव, प्रहलाद, मोरध्वज, हरिश्चंद्र जैसे पौराणिक पात्र तथा विक्रमादित्य, राजा भोज, शिवाजी, राणा प्रताप, दुर्गावती जैसे ऐतिहासिक वीर-वीरांगनाओं का चित्रण इस काल के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति थी। इसके साथ

ही बच्चों में भक्ति-भावना उत्पन्न करना, धार्मिक और नैतिक शिक्षा देना भी इस साहित्य का उद्देश्य था। 1857 की प्रथम क्रांति के पश्चात् अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में पूर्णरूपेण स्थापित हो गया और इसके उपरांत लिखे गए बाल-साहित्य में मंगल पांडे, लक्ष्मीबाई, अजीमुल्ला खां, तात्यां टोपे आदि सेनानी उभर कर आए।

1857 के लगभग 10-15 वर्षों के बाद स्वतंत्र रूप से जो बाल-साहित्य लिखा गया, उसकी प्रकृति में परिवर्तन परिलक्षित हुआ। धार्मिक शिक्षा तथा महापुरुषों और देश प्रेमियों की जीवनियों का क्रम तो चलता ही रहा, अब इसमें अन्य विषय भी समाविष्ट होने लगे। हास्य-व्यंग्य इनमें प्रमुख था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा लिखित कालजयी नाटक अंधेर नगरी इसी काल में लिखा गया। यह यद्यपि विशुद्ध बाल-भाषा में लिखा गया विशुद्ध बाल-साहित्य है, पर अपनी विशिष्टता के कारण हिन्दी साहित्य में इसने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाकर रखा है। बाल-साहित्य लेखन की प्रकृति में अब विषयगत परिवर्तन तो धीरे-धीरे होने लगे थे, परन्तु उसकी मूल चेतना अब भी राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत थी।

इस समय तक विज्ञान और वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचार-प्रसार धीरे-धीरे समूचे विश्व में होने लगा था। भारत में भी मुद्रण यंत्र अनेक स्थलों पर लगे। विदेशी साहित्य से संपर्क हुआ और हिन्दी में बाल-साहित्य लेखन की प्रकृति शनैः शनैः बदलने लगी। विज्ञान ने भारतीय जन साधारण को स्वर्ग, देवता और राक्षसों से मुक्ति दिलाई। बिजली, रेलगाड़ी, तार, कलम, मोटर, साइकिल यहाँ तक कि छपे हुए अक्षरों को वह कौतूहलपूर्ण दृष्टि से विस्मित होकर देखने लगा। जब बड़ों की यह दशा थी, तो बच्चों की उत्सुकता का तो कहना ही क्या था। उनमें तो उत्सुकता, कौतूहल और जिज्ञासा प्रकृतिजन्य होती है। अब बाल-साहित्य में जो नए विषय शामिल हुए, उनमें रेलगाड़ी की कहानी, बिजली की कहानी, छापेखाने की कहानी, कलम की कहानी आदि प्रमुख थे। बच्चों का उर्वर मस्तिष्क वैज्ञानिक आविष्कारों की बारीकियों से युक्त किया जाने लगा। बाल-साहित्य की प्रकृति में परिवर्तन का यह पहला मोड़ था।

भारत परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। पश्चिमी संपर्क की हवाएँ और सुधार-आंदोलन की आँधियाँ इस प्रक्रिया को और तेज कर रही थीं। यही वह समय था, जब बाल-साहित्य पर केन्द्रित पत्रिकाएँ प्रकाश में आने लगीं। 1882 ई. में इलाहाबाद से प्रकाशित बाल दर्पण पत्रिका के प्रकाशन से बाल-साहित्य के क्षेत्र में नए युग का सूत्रपात हुआ। इसके प्रकाशन में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र का विशेष एवं उल्लेखनीय योगदान रहा। इस पत्रिका के पश्चात और भी अनेकानेक पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। इनमें बाल हितकर (1891, लखनऊ), छात्र-हितैषी

(1906, अलीगढ़), बाल प्रभाकर (1906, बनारस), विद्यार्थी (1914, इलाहाबाद) आदि प्रमुख हैं। इन पत्रिकाओं में शिशु से लेकर 14-15 वर्षीय उम्र के बाल-बालिकाओं के लिए उनकी मानसिकता के अनुसार पाठ्य सामग्री होती थी।

बाल-साहित्य का विस्तार होने लगा था, किन्तु अब तक इसका स्वरूप स्थिर नहीं हुआ था। एक बात और थी। इस समय समाज बाल-विवाहों में पूरी तरह जकड़ा हुआ था। 8-9 वर्ष की अवस्था में बालिका का और 12-13 वर्ष की अवस्था में बालकों का विवाह होना सामान्य बात थी। जो उम्र बाल-साहित्य के पठन-पाठन की रहती है, उस उम्र में गृहस्थ जीवन और दांपत्य सुख का अनुभव ही जब प्राप्त होने लगे, तो बाल-साहित्य किसे और क्यों? बाल-साहित्य लेखकों की मानसिकता भी अलग किस्म की थी। बच्चों की मानसिकता और मनोविज्ञान जाने बिना ही बाल साहित्यकार बाल-साहित्य का सृजन कर रहे थे। यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस समय के बाल-साहित्य लेखक स्वयं को बाल साहित्यकार कहलाने में झिझकते थे।

अंग्रेजी पद्धति की शिक्षण व्यवस्था ने गुरुजी और पाठशालाओं को टीचर और स्कूल में बदल दिया। अंग्रेजी सहित अनेक विषय पाठ्यक्रमों में शामिल किए गए। स्वतंत्र भारत में देश के विकास के लिए नई-नई योजनाएँ बनीं। बाल-साहित्य की प्रकृति भी तदनुरूप स्वतः बदलती गई। स्वतंत्रता के पश्चात् जो बाल-साहित्य लिखा गया वह विविधमुखी था। इस समय तक पराग, नंदन, चंदामामा, बालभारती जैसी स्तरीय पत्रिकाएँ बाल-साहित्य के क्षितिज पर तेजी से उभरीं जिन्हें बाल-जगत ने सिर-आँखों पर लिया। इनमें विविध विधाएँ और विषयगत विविधता थी। करुणा, चुटकुले, जीवनियाँ, कहानियाँ, विभिन्न देशों व प्रदेशों का परिचय, ब्रह्मांड, खगोल, पेड़-पौधे, वनस्पतियाँ, संसद, प्रश्नोत्तर, कविताएँ, बाल-पहेलियाँ, विज्ञान-पहेलियाँ, एकांकी, पाठक रंग भरो प्रतियोगिताएँ, कहानी पूरी करो, चित्र के आधार पर कहानी-कविता लेखन आदि सृजनात्मकता से परिपूर्ण बाल-साहित्य प्रकाश में आया। यह साहित्य बोझिल उपदेशों, कठोर संयम व अनुशासन से मुक्त था तथा बच्चों के कोमल मन की भांति कोमल व स्वछंद विहार करता हुआ था।

सूचना क्रांति ने बाल-साहित्य की समूची दिशा ही बदल दी। पौराणिक ऐतिहासिक व राष्ट्रीय चरित्र पीछे छूट गए। बाल-साहित्य आज कॉमिक्स का पर्याय बन चुका है। कार्टून की तकनीक ने बच्चों को सर्वाधिक आकर्षित किया है। यद्यपि कॉमिक्स बच्चों के साहसिक कारनामों से युक्त रहते हैं तथापि जादू-टोने, राक्षस तथा अंधविश्वासों के पुट से ये अछूते नहीं होते। कोमल

मस्तिष्क पर इनके दुष्प्रभावों के अनेक उदाहरण भी देश में हुए हैं। जंगल बुक जैसी स्वस्थ व लोकप्रिय कार्टून कथाएँ भी आज उपलब्ध हैं, जिन्होंने बच्चों को ही नहीं बड़ों को भी अपनी ओर आकर्षित किया है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने बाल-साहित्य के लिखित रूप को पछाड़ दिया है। एक समय था, जब बाल-पत्रिकाएँ गुड़ की भांति देश में चलती थीं। इनमें तीन-चार कॉलम के छोटे-छोटे कार्टून हुआ करते थे। कॉमिक्स के आगमन से पत्रिकाओं की लोकप्रियता प्रभावित हुई, पर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने बाल-साहित्य के उक्त दोनों प्रकारों पर असर डाला।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने बाल-साहित्य के लिखित स्वरूप को भले ही क्षति पहुँचाई हो, पर शब्द की सत्ता आज भी है। बाल-पुस्तकें और बाल-पत्रिकाएँ बाजार में अपेक्षा के अनुरूप अपना स्थान न बना पा रही हों, पर कोई ऐसा अखबार नहीं है जिसमें सप्ताह में एक दिन बच्चों का पन्ना न आता हो। बाल-साहित्य पुस्तकाकार रूप में भी आ रहा है, पर उसकी प्रकृति भिन्न हो गई है। कंप्यूटर सीखें, ई-मेल, इंटरनेट क्या है? मोबाइल के खेल आदि नवीनतम जानकारियों से युक्त पुस्तकें बाल-साहित्य में समाविष्ट हो रही हैं। इनके साथ-साथ परंपरागत सामग्री तो चल ही रही है।

स्वतंत्रता-पूर्व से लेकर आज तक के लगभग 200 वर्षों के बाल-साहित्येतिहास में अनेक परिवर्तन आए हैं। वर्तमान का बाल-साहित्य सही मायनों में बच्चों की मानसिकता और आवश्यकता को ध्यान में रखकर सृजित हो रहा है। इसमें कोरी भावुकता एवं उपदेशों का बोझिल रूखापन नहीं है।, पर, युग की कुछ कमियाँ इस साहित्य में घर करती जा रही हैं-यह चिंतनीय पक्ष है। इस पक्ष को दूर करने के प्रयास करके विशुद्ध बाल-साहित्य का सृजन किया जा सकता है।

□□□